ज्ञानमण्डल ग्रन्थमालाका सत्रहवाँ ग्रन्थ ।

राजनीतिशास्त्र

लेखक—श्रीप्राणनाथ विद्यालंकार ।

ज्ञानमण्डल कार्यालय काशी ।

प्रथम संस्करण } दो हजार }   संवत् १९७६   { मूल्य { सजिल्दका १।=)

प्रकाशक—
ज्ञानमण्डल कार्यालय
काशी।

लागत व्ययका लेखा।

छपाई	..	४५०)
कागज	.	७३०)
सम्पादन, संशोधन	...	२२५)
विज्ञापन, इत्यादि	.	९५)
पुरस्कार	.	५००)
		२०००)
		१०००)
कमीशन		१०००)
हानि, भेंट, इत्यादि		
		२०००)
योग		

∴ मूल्य एक प्रतिका २) + ।=) जिल्दके लिये

मुद्रक—
महताब राय,
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय,
काशी।

समर्पण

यह ग्रन्थ

उदार-प्रकृति, सत्य-प्रेमी, देशभक्त-स्वार्थ, त्यागी मित्रवर श्रीमान् शिवनारायण मिश्र तथा गणेशशंकर विद्यार्थी जीको अगणित कृपाओं तथा सौहार्द भावोंके उपलक्ष्यमें समर्पित करता हूं।

प्राणनाथ

इस पुस्तकमें उल्लिखित ग्रन्थोंकी नामावली ।

1	Bluntschli	The Theory of the State
2	W Wilson	The State
3	T Woolsey	Political Science
4	J E Halland	Elements of Jurisprudence
5	Gettel	Introduction to Political Science
6	Leacock	Elements of Political Science
7	Willoughby	The Nature of the State
8	Austin	Lecturess on Jurisprudence
9	A V Dicey	Law of the Consitution
10	Sidgwick	Elements of Politics
11	Ritchio	Principles of State Interference
12	M Kechnie	The State and the Individual
13	Ritchie	Natural Rights
14	Russeau	Social Contract
15	S Amos	The Science of Politics
16	J W Burgess	Political Science and Constitutional Law
17	Mars Stephen	The French Revolution
18	Dealey	The Development of the State

१९ श्रीप्राणनाथ विद्यालङ्कार—राष्ट्रीय सिद्धान्त ।

विषय-सूची

(प्रथम भाग)

पहिला परिच्छेद

दूसरा परिच्छेद

तीसरा परिच्छेद

चौथा परिच्छेद

पांचवाँ परिच्छेद

छठां परिच्छेद

सातवाँ परिच्छेद

आठवाँ परिच्छेद

नवाँ परिच्छेद

दसवाँ परिच्छेद

ग्यारहवां परिच्छेद

(द्वितीय भाग)

पहिला परिच्छेद

दूसरा परिच्छेद

तीसरा परिच्छेद

चौथा परिच्छेद

पाँचवाँ परिच्छेद

छठवाँ परिच्छेद

प्रथम भाग ।

राजनीति शास्त्र।

पहिला परिच्छेद।

राष्ट्रीय स्वरूपका विचार।

§१. *राष्ट्रका स्वरूप तथा लक्षण*

राष्ट्रका स्वरूप तथा गुण।

समाज, जाति तथा राज्यके लिये प्रायः राष्ट्र (State) शब्द लोकमें प्रचलित है। परन्तु राजनीति शास्त्रमें राष्ट्रसे विशेष तात्पर्य लिया जाता है। राष्ट्रके तात्पर्यका उसके स्वरूप तथा गुणोंके साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीतिके आचार्य ब्लुन्टश्ली (Bluntchli) ने इस पर अच्छी तरहसे प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि राष्ट्रके साथ इन सात बातोंका गाढ़ सम्बन्ध इतिहाससे प्रतीत होता है:—

(क) जनसंख्या।

(ख) स्थान।

(ग) संगठन।

(घ) शासक शासितोंमें भेद।

(ङ) जीवन।

(च) सदाचारके सिद्धान्त ।

(छ) नर-गुण-प्रधानता ।

(क) जनसंख्या—वर्तमान कालके राष्ट्रोंकी आबादी बहुत ज्यादा है। राष्ट्रका यह गुण अति प्राचीन है। इतिहास कसी ऐसे राष्ट्रका उल्लेख नहीं करता है जिसकी आबादी दो या तीन मनुष्यों तक पहुंचती हो। महाशय रूसोने राष्ट्रकी अल्पसे अल्प आबादी दश हजार प्रगट की है। प्राचीन तथा मध्यकालमें ऐसे बहुत राष्ट्र थे। परन्तु आजकल पारस्परिक युद्ध तथा पारतन्त्र्यके भयसे राष्ट्रोंने वृहद्रूप ग्रहण कर लिया है। कुछ एक विचारक राष्ट्रके साथ आबादीके सम्बन्धको ऐतिहासिक विकासका परिणाम मानते हुए उसे गौण मानते हैं। उनके मतमें एक परिवार भी राष्ट्र हो सकता है। प्रसिद्ध व्यष्टि-वादी, वर्डजवर्थ डानिस्थोप (Wordsworth Donisthrope) का कथन है कि "मैं साहसके साथ कह सकता हूं कि प्राथमिक राष्ट्रमें एक मात्र माता तथा उसके बालक ही सम्मिलित थे"। जो कुछ भी हो वर्त्तमान काल-में राष्ट्रोंका आबादीके साथ गभीर सम्बन्ध है, अतः 'प्राचीन कालमें क्या था और क्या हुआ' इस विचारका इस स्थानपर कोई लाभ नहीं प्रतीत होता है। इसका महत्व 'राष्ट्रकी उत्पत्ति' प्रकरणमें ही है।

(ख) स्थान—राष्ट्रकी स्थिरता तथा उन्नति स्थानके साथ सम्बद्ध है। भ्रमणशील जातियोंने राष्ट्रका रूप तब तक ग्रहण नहीं किया जब तक वे किसी न किसी स्थान पर बस न गयीं। मूज़िज़के नियमों पर चलते हुए भी यहूदी राष्ट्रके रूपमें तभी परिवर्त्तित हुए जब कि जोशूने उनको

फिलिस्तीनमें बसाया। किम्ब्री तथा ट्यूटन्ज स्थान न प्राप्त करनेके कारण हो नष्ट हो गये। प्राचीन कालमें राष्ट्रकी प्रभुत्व-शक्तिका प्रायः समुद्र तथा भूमिके साथ हो विशेष सम्बन्ध था। परन्तु आज कल वायुयानोंके आविष्कारसे वायु तथा आकाश भी राष्ट्रीय प्रभुत्व शक्तिकी सोमामें आ गये हैं। यही कारण है कि राष्ट्रका विशेष सम्बन्ध भूमि या समुद्रके साथ न प्रगट करते हुए स्थानके साथ ही प्रगट किया गया है। स्थानमें भूमि, समुद्र आकाश आदि सभीका समावेश हो जाता है।

(ग) संगठन—समाजान्तर्गत मनुष्योंके राजनीतिक संगठन-का राष्ट्रीय स्वरूपके निर्माणमें बहुत बड़ा भाग है। राष्ट्रके अंगभूत मनुष्य बहुत सी बातोंमें सर्वथा पृथक् रह सकते हैं, उनमें पारस्परिक कलह भी हो सकता है परन्तु राष्ट्रके मामले-में उनका संगठन अति आवश्यक है। अमेरिकामें भिन्न २ रियासतें अपने अन्तरीय प्रबन्धमें स्वतन्त्र हैं, परन्तु वे अमेरिकन राष्ट्रमें संगठित हैं। राजनीतिक संगठन बिना कोई राष्ट्र, राष्ट्र नहीं हो सकता है।

(घ) शासक शासितोंमें भेद—संगठनके साथ साथ संपूर्ण राष्ट्रों-के अंदर शासक शासितोंमें भेद दिखायी देता है। अत्यन्त प्रजा सत्ताक राज्यमें भी यह भेद-भाव विद्यमान है। एथन्जमें एथीनियन सभा शासक थी और एथीनियन नागरिक उसके द्वारा शासित होते थे। जिस राष्ट्रमें यह भेदभाव किसी कारणसे लुप्त हो जावे और जिसका प्रत्येक मनुष्य उच्छृंखल विचरने लगे, वहां अराजकता फैल जाती है और राष्ट्रीय प्रतिभा छिन्न भिन्न हो जाती है। समष्टिवादियोंमें कम्यूनिष्ट

लोग राष्ट्रके इस स्वरूपके विरुद्ध हैं। सामाजिक बन्धनोंके द्वारा ही वे संपूर्ण काम चलाना चाहते हैं। उनके विचारों की असत्यता इसीसे स्पष्ट है कि वे अपने विचारोंके अनुसार अभी तक किसी समाजके निर्माणमें समर्थ नहीं हो सके हैं। कोई भी समाज शासक-शासितोंके भेदके बिना न तो राष्ट्र-बन सकता है और न अपना काम सफलतापूर्वक निष्पादन कर सकता है।

(ङ) जीवन—राष्ट्रका विकास-ह्रास चेतनोंसे मिलता है। चेतनोंके समूहसे ही वह बना है। इसीलिये 'राष्ट्र'सजीव माना जाता है। राज्य-संघटन, नियम, न्यायालय, सेना उपसेना तथा अन्य संपूर्ण संस्थायें आदि संमिलित रूपसे राष्ट्रके शरीर-को बनाते हैं। इसीमें राष्ट्रका आत्मा तथा मन रहता है। राष्ट्रकी उन्नति अवनति सदा होती रहती है। शैशवकालसे वृद्धत्वकाल तककी संपूर्ण अवस्थाओंमेंसे राष्ट्र गुजरता है। उसके जीवनकी दीर्घता तथा न्यूनता उसके शरीरकी स्वस्थता तथा विराष्ट्रीय सम्बन्धों पर आश्रित है। उसके जीवनका महत्व इसीसे जानना चाहिये कि उसकी रक्षामें उसका प्रत्येक अंग अपने आपको बलि कर देता है। अन्यथा राष्ट्रके परतन्त्र होने पर अन्य अंगोंका ह्रास होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि समय समय पर महापुरुष राष्ट्रके जीवनकी रक्षाके लिये अपने आप तथा अपनी सम्पत्तिको स्वाहा करते रहे हैं। कुछ एक राजनीतिज्ञ राष्ट्रको इच्छाशक्ति-रहित अनात्मिक वस्तु मानते हैं। वे उसकी उपमा वृक्षसे देते हैं और उसकी उन्नति तथा अवनति क्रमबद्ध प्रगट करते हैं। उनका सिद्धान्त है कि प्राकृतिक पदार्थोंके विकासके सदृश ही

उसका भी विकास है। जिस स्थान पर जैसा बीज पड़ गया, वहां उसी प्रकार राष्ट्र उत्पन्न हो गया। वृक्षोंके ही सदृश पारस्परिक संघर्षसे राष्ट्रोंकी उन्नति-अवनति होती है। जिस राष्ट्रका तना वट या पीपलकी तरह होगा वही राष्ट्र बढ़ेगा तथा अन्योंके आधार पर अपने आपको प्रति दिन बढ़ाता जायगा। कुछ समयके बाद उस वृहत् राष्ट्रमें, आयुके पूर्ण होनेसे या अन्य प्रतिद्वन्द्वि-तत्वों द्वारा आक्रान्त होनेसे क्षीणता प्रारम्भ होगी। साथ ही साथ उसमें अन्य समीप-वर्ती राष्ट्रोंसे निर्वाह करनेकी शक्ति भी लुप्त होती जायगी। इस प्रकार चक्र पलटेगा और दुर्बल राष्ट्र प्रबल राष्ट्रके क्षीण होनेसे शक्ति प्राप्त कर प्रबल राष्ट्रका रूप धारण करलेंगे। सारांश यह है कि प्राकृतिक परिवर्त्तन अदम्य हैं। राष्ट्रिक परिवर्त्तन भी उन्हींका एक भाग है। राष्ट्र स्वयं स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। प्रकृति जिधर राष्ट्रको चलाती है, राष्ट्र उधर ही चलता है।

राष्ट्रके अनात्मवादी तथा आत्मवादी दोनों ही संप्रदायों-के विचारोंमें पर्याप्त प्रबलता है। वास्तविक बात तो यह है कि समाज तथा राष्ट्रके ह्रास-विकासमें चेतन तथा अचेतन सम्बन्धी दोनों ही नियम काम करते हैं। यही कारण है कि बहुत से विचारक राष्ट्रके उपरिलिखित चारों गुणोंको ही प्रगट करते हैं और अन्तिम तीनोंको सर्वथा ही छोड़ देते हैं। जिन राजनीतिज्ञोंका राष्ट्रके शरीरयुक्त होनेमें प्रबल विश्वास है वे राष्ट्रके कृत्रिम तीन स्वरूपोंपर भी काफी जोर देते हैं।

(च) सदाचार सिद्धान्त—ऊपर राष्ट्रके जीवनका रहस्य

बतलाया है। पशु पक्षियोंके सदृश राष्ट्रका जीवन नहीं है। राष्ट्रके जीवनमें सदाचारके सिद्धान्त काम करते हैं। समाजके अनुभवों तथा विचारोंको नियम द्वारा वह कार्यमें लाता है। शासन पद्धतिका एकमात्र उद्देश्य यह है कि राष्ट्र अपनी इच्छाओंको सफलता पूर्वक काममें लासके। वैयक्तिक इच्छाओंकी अपेक्षा राष्ट्रकी इच्छाएं उच्च गिनी जाती हैं। सारांश यह कि राष्ट्र एक उत्कृष्ट शरीरीके सदृश है, उसको पशुपक्षियोंकी श्रेणीमें नहीं रखा जा सकता।

(छ) नर-गुण-प्रधानता—मनुष्यमें नर नारी दो भेद हैं। राष्ट्रका स्वरूप नर-गुण-प्रधान है। धार्मिक संस्थाओंके हाथमें राष्ट्रीय प्रभुत्वशक्तिके जानेपर राष्ट्रमे नारियोंके गुण झलकने लगते हैं। स्त्रियोंको वोट देनेका अधिकार मिलने पर भी यही बात होती है। क्योंकि इससे उसमें कोमलता, असहिष्णुता तथा नाजुकपना आ जाता है। परन्तु राष्ट्रका नर-गुण-प्रधान होना आवश्यक है। उसमें कठोरता, सहिष्णुता धैर्य आदि गुण होने चाहियें।

राष्ट्रका लक्षण

इतिहाससे राष्ट्रमें जिन २ गुणोंकी विद्यमानता प्रगट होती है, उनका उल्लेख किया जा चुका है। उपरिलिखित गुणोंका ध्यान रखते हुए महाशय ब्लुण्टश्ली राष्ट्रका लक्षण इस प्रकार करतेहैं। स्थान विशेष पर शासक शासितोंके रूपमें सगठित आत्म सयुत नरगुण प्रधान मनुष्य समाका नाम राष्ट्र है[१] अथवा इसको संक्षेपतः इस प्रकार भी

---

१ Bluntschli, The Theory of the State, Book I. chapter. I.

प्रगट कर सकते हैं स्थान विशेषके राजनीतिक तौर पर सगठित जातीय पुरुषका नाम राष्ट्र है इसी लक्षणको प्रसिद्ध राज नीतिज्ञ वुडरो-विल्सनने इन शब्दोंमें रखा है 'स्थान विशेषमें राज्य नियमके लिये संगठित समाजका नाम राष्ट्र है'[२]। यही नहीं वूल्जे भी स्थान विशेषमें राज्य नियमके सहारे अपने अंगोंके द्वारा न्याय वितीर्ण करने वाले समाजका नाम राष्ट्र है, यह कहते हुए उपरिलिखित तीनों राजनीतिज्ञोंके साथ राष्ट्रके लक्षणमें अपनी सहमति प्रगट करता है[३]। राष्ट्रीय प्रभुत्व पर विचार करते हुए महाशय हालैंडसे हमको काम पड़ेगा, अतः इनका राष्ट्रका लक्षण' देदेना आवश्यक प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि बहु सम्मति रूपी शक्तिसे संचालित स्थान विशेषके संगठित समाजका नाम राष्ट्र है[४]।

राष्ट्रके वर्त्तमान स्वरूप तथा लक्षणको प्रगट कर देनेके अनन्तर इस पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि राष्ट्रका वास्तविक अन्तिम स्वरूप क्या होना चाहिये और वर्त्तमान रूप कहां तक अपरिपूर्ण है। इसी उद्देश्यसे अब द्वितीय प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

§२. *सार्वभौम राष्ट्र*

राष्ट्रोंका वर्त्तमानकालिक स्वरूप सर्वथा अपरिपूर्ण है। राष्ट्रोंने अभीतक अपने अन्तिम विकासको नही प्राप्त किया

---

२ W. Wilson. The State

३ T. Woolsey. Political Science.

४ J. E Holland, Elements of Jurisprudence

है। अरस्तूका कथन कि "मनुष्य राजनीतिक जीव है" सार्वभौम सत्य है। राजनीतिक स्थितिके विना मनुष्यका निर्वाह नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रमें ही उत्पन्न होता है और उसीमें परमावस्थाको प्राप्त करता है। व्यक्तियोंके सदृश ही संसारके सभी राष्ट्रोंमें पारस्परिक समभ्नता है। इसीलिए राष्ट्रोंमें मात्स्य-न्यायका संचलन अनुचित है। अभी संसारके संपूर्ण राष्ट्रोंमें एकत्व स्थापित होनेकी नितान्त आवश्यकता है। सार्वभौम राष्ट्रके विना राष्ट्रोंकी पूर्णता कहां। यदि मनुष्योंमें सार्वभौम भ्रातृभाव तथा सार्वभौम धर्मकी आवश्यकता है तो सार्वभौम राष्ट्रकी सत्ताका कौन अपलाप कर सकता है?।

राष्ट्रोंकी परिपूर्णताके विना राष्ट्रीय पुरुषोंकी परिपूर्णता असम्भव है। यदि राष्ट्र मनुष्य है तो मनुष्यके तुल्य ही उसका आत्मा तथा शरीर होना चाहिये। मनुष्यके समानुपातमें ही उसकी उन्नति आवश्यक है। यदि मनुष्य एक राष्ट्रमें संगठित हो करके पूर्णता प्राप्त करते हैं तो भिन्न २ राष्ट्रोंको सार्वभौम राष्ट्रमें संगठित हो करके क्यों न पूर्णता प्राप्त करनी चाहिये? मनुष्य ही व्यष्टि तथा समष्टि रूपेण वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय नियमोंका स्रोत है। शोक है कि मनुष्योंने अभीतक अपने आपको सार्वभौम समाजका अंग नहीं बनाया है। वे स्वप्नमें ही पड़े हैं। इसीलिये सार्वभौम-राष्ट्र-संगठन तथा सार्वभौम-राष्ट्र-नियम शताब्दियोंकी बात है।

संसारकी भिन्न २ जातियोंने सार्वभौम राष्ट्र निर्माणमें प्रयत्न किया परन्तु सफलता किसीको भी न मिली। इससे यह कभी भी नहीं कहा जा सकता कि सार्वभौम राष्ट्रका निर्माण असम्भव है। प्राचीन नेताओंने सार्वभौम राष्ट्र-

निर्माणमें बहुतसी त्रुटियां कीं जिनका ज्ञान इतिहाससे सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि उन त्रुटियोंको बुद्धिमत्तापूर्वक दूर करनेका यत्न किया जाय तो सफलताका प्राप्त होना असम्भव नहीं है।

सार्वभौम-राष्ट्र-निर्माणका सबसे पहिला प्रयत्न यूरोपमें सिकन्दरने किया। इसी उद्देश्यसे प्रेरित हो करके उसने सूसा पर विवाहके द्वारा यूरोप तथा एशियाको संगठित करनेका यत्न किया। प्राक्‌कालीन राष्ट्रीय शासन-पद्धति प्रजासत्तात्मक थी, परन्तु नागरिक अन्य राष्ट्रोंको 'राष्ट्र-संगठन' का ज्ञान न था। राष्ट्र-संगठनके सिवाय अन्य कोई विधि सार्वभौम राष्ट्र-निर्माणमें समर्थ नहीं है। राष्ट्र-संगठन विधिकी अज्ञानतासे ही यूनानियोंको सिकन्दरके एकसत्ताक राज्यमें संगठित होना पड़ा। भारतवर्षमें भी यूनानके ही सदृश आर्योंको समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्तके एक मात्र आधिपत्यमें संगठित होना पड़ा। एक सत्ताक राज्य दूरस्थ राष्ट्रोंको अपनेमें संगठित कर सकता है परन्तु उस संगठनको चिरकाल तक स्थिर नहीं रख सकता। रोमन लोगोंने अन्य सब प्राचीन जातियोंकी अपेक्षा राष्ट्र संगठनमें सफलता प्राप्त की। परन्तु वे साम्राज्यकी सभी जातियोंको 'रोमन' बनाना चाहते थे, जो कि बहुतोंको स्वीकृत न था। इसीलिये वे सार्वभौम राष्ट्र निर्माणमें समर्थ न हो सके। अमेरिकाने राष्ट्र-संगठनकी नवीन विधिके द्वारा संसारका बहुत ही अधिक उपकार किया है। इसी विधिके द्वारा जर्मनी, फ्रांस तथा स्विट्जर्लैंडने संगठन किया है और भारतको अपनी स्वतन्त्रताके दिनोंमें इसी विधिका अवलम्बन करना पड़ेगा।

राष्ट्र संगठनकी नवीन विधिमें इंग्लैण्ड चाहता तो बहुत कुछ उन्नति कर सकता। समुद्र द्वारा विभक्त राष्ट्रोंके राष्ट्र-सगठन (Federation) का अभी तक किसी भी देशने बृहद्रूपमें परीक्षण नहीं किया है। इंग्लैण्ड चाहता तो भारतादि देशोंको स्वातंत्र्य दे करके नौ-शक्तिके बल पर एक नवीन राष्ट्र-संघका निर्माण करता। इससे उसकी शक्ति वर्त्तमान कालकी अपेक्षा कई गुनी अधिक हो जाती। उसके नवीन राष्ट्र-संगठनके अंगभूत भारतादि वृहद्राष्ट्र, स्वतन्त्रताके कारण, शक्ति तथा समृद्धिको प्राप्त करते और उसकी शक्ति कई गुनी अधिक बढ़ा देते। किन्तु इंग्लैण्डने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। इसीका परिणाम यह है, कि प्राचीनकालमें एथेन्सको परतन्त्र राष्ट्रोंके सभालनेमें जो कठिनाइयां उठानी पड़ी थी, वही आज इंग्लैण्डको उठानी पड रही हैं। बहुतसे राजनीतिज्ञ सार्वभौम राष्ट्रके विचारको ही अस्वाभाविक समझते हैं। इसका कारण निम्नलिखित है—

(क) सार्वभौम-राष्ट्र-संगठनकी शासनपद्धति राजात्मक होगी, जो राष्ट्रोंकी प्रभुत्वशक्तिके सर्वथा विपरीत है।

(ख) व्यक्ति व्यक्तिमें तथा राष्ट्र राष्ट्रमें पारस्परिक भेद विद्यमान है। मनुष्य, दुर्बल, असदाचारी तथा निःशक्त होनेसे राजनीतिक जीव है। राष्ट्रके साथ यह बात नहीं है। राष्ट्रीय पुरुष स्वतः पूर्ण, सदाचारी तथा सशक्त होनेसे राजनीतिक जीव नहीं है। इस दशामें पुरुषोंको संगठनकी आवश्यकता होते हुए भी राष्ट्रीय पुरुष संगठनसे पृथक् रह सकते हैं।

(ग) सामाजिक पुरुष दुर्बल होनेसे राष्ट्रीय प्रभुत्व शक्ति-

के अंगीकृत करनेमें बाधित हैं। परन्तु राष्ट्रीय पुरुष तो सबल हैं, उनको सार्वभौम राष्ट्रीय प्रभुत्वशक्तिके अंगीकृत करनेमें कौन बाधित कर सकेगा।

(घ) यदि सार्वभौम राष्ट्र किसी विधिसे राष्ट्रोंको अपनी प्रभुत्वशक्तिके अंगीकरणमें बाधित कर दें, तो इससे न्याय तथा स्वातन्त्र्यका घात होगा। क्योंकि बाधित किये जानेमें स्वतन्त्रता कहां?

(ङ) व्यक्तियोंकी उन्नतिके लिये जातीय राष्ट्र आवश्यक है और वह स्वतः इस कार्यमें पर्य्याप्त शक्तियुक्त है। ऐसी अवस्थामें सार्वभौम राष्ट्रकी आवश्यकता ही क्या है?

उपरि लिखित युक्तियां त्रुटिपूर्ण होनेसे सर्वथा हेय हैं। सार्वभौम राष्ट्र निर्माणको हम निम्नलिखित विचारसे पुष्ट कर सकते हैं।

(क) सार्वभौम राष्ट्रकी शासन-पद्धति राजात्मक होनेके स्थान पर राष्ट्र-संगठनात्मक या प्रधान-सत्तात्मक हो सकती है। इससे राष्ट्रीय प्रभुत्वशक्तिका संरक्षण स्वाभाविक ही है। वर्त्तमान कालीन अन्तर्जातीय नियम सार्वभौम राष्ट्र संगठन के नियमोंके पूर्व-रूप कहे जा सकते हैं। समयान्तरमें अन्तर्जातीय संगठन पूर्णता प्राप्त करते ही सार्वभौम राष्ट्र संगठनको जन्म दे सकता है। यह राष्ट्रीय प्रभुत्व-शक्तिके कभी भी विपरीत नहीं हो सकता है।

(ख) व्यक्तियोंके सदृश ही जातियां भी दोष तथा दुर्बलताओंसे परिपूर्ण हैं। गत यूरोपीय युद्ध इसीका साक्षी है। जिस प्रकार व्यक्तियोंको राष्ट्रकी आवश्यकता है, उसी प्रकार जातियोंको सार्वभौम-राष्ट्र-संगठनकी आवश्यकता है।

(ग) व्यक्तियों पर जिस प्रकार राष्ट्रकी प्रबलता है, उसी प्रकार एक २ राष्ट्र पर सार्वभौम राष्ट्रकी प्रबलता होगी। यदि भिन्न २ व्यक्ति राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिको अंगीकृत करनेमें बाधित हैं तो राष्ट्र भी सार्वभौम राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिका अपलाप न कर सकेंगे।

(घ) सार्वभौम राष्ट्रसे संगठनमें संसारके संपूर्ण राष्ट्रोंके संगठित होने पर भी अन्तरीय मामलोंमें उनकी स्वतन्त्रता पूर्ववत् ही बनी रहेगी। राष्ट्रोंके पारस्परिक कलहको संघकी शक्तिके बल पर सार्वभौम राष्ट्र संगठन शान्त कर दिया करेगा। ऐसे प्रबन्धमें पूर्ण न्यायके न होते हुए भी सभी राष्ट्रोंको उसीके अवलम्बनमें दत्तचित्त होना चाहिये। क्योंकि पूर्ण न्याय तो इस संसारमें कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। पूर्ण न्यायके अधिकतर निकट जो कुछ भी प्रबन्ध वर्त्तमान कालमें कहा जा सकता है वह सार्वभौम-राष्ट्र-संगठनका प्रबन्ध ही है। इसीके द्वारा भयंकर राष्ट्रीय युद्ध शान्त हो सकते हैं।

[ङ] कोई भी ऐसा राज्य नहीं है जो संपूर्ण व्यक्तियों-के अभिमतको पूर्ण करे। बहुत सी ऐसी बात है जिनका वर्त्तमान कालीन राष्ट्र पूर्ण करनेमें सर्वथा ही असमर्थ है। जातीय राष्ट्रोंकी पृथक् २ परस्पर निरपेक्ष सत्ता सार्वभौम भ्रातृभावकी विरोधिनी है। पारस्परिक भयंकर युद्ध तथा जाति जातिका द्वेष संसारस्थ राष्ट्रोंके पार्थक्यका ही परिणाम है। शान्ति तथा सदाचारकी स्थापनाके लिये सार्वभौम-राष्ट्र-संगठन, सार्वभौम भ्रातृभावके सदृश ही आवश्यक है।

दूसरा परिच्छेद

राष्ट्रका समुत्थान।

§३. *विचार प्रणाली।*

राष्ट्रके समुत्थान तथा ह्रासका पता लगानेके दो ढंग हैं।

राष्ट्रीय विचारके दो ढंग तथा दो प्रश्न।

राष्ट्रके समुत्थानके क्या कारण हैं और राष्ट्र किन २ परिस्थितियोंमें उत्पन्न हुआ? ये दो प्रश्न हैं जिन पर भिन्न २ ढंगसे हो विचार किया जा सकता है। कारणोंको पता लगानेमें कल्पनाका और परिस्थितियोंका पता लगानेमें इतिहासका ही मुख्य तौर पर सहारा लेना पड़ता है। किन किन परिस्थितियोंमें राष्ट्रने किन किन रूपोंको धारण किया, इस प्रकारका वर्णन इतिहास द्वारा ही संभव है। परन्तु इन परिवर्तनोंका कारण जानना कल्पनाका सहारा लिये विना असम्भव है।

राष्ट्रके उदयमें इतिहासका भाग

इतिहास जहां तक पहुचता है, राष्ट्रका उदय उससे बहुत पूर्व हो हो चुका था। प्राचीन भारतमें वैदिक कालके अन्दर राष्ट्रोंकी सभा पूर्ण रूपसे विद्यमान थी। यहूदियों तथा मिश्रवासियोंके राष्ट्र भारतीय राष्ट्रोंके आधार पर हो बनाये गये थे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। शोक है कि भारतके प्राचीन पवित्र ग्रन्थ इस समस्याको और इसके रहस्यको पूरे तौर पर नहीं खोलते हैं।

'सैकड़ों राष्ट्र बने और बिगड़े' इसका ज्ञान इतिहाससे पूरे तौर पर हो जाता है। कुछ ही शताब्द हुए

नये राष्ट्रोंकी उत्पत्ति

कि सारेके सारे यूरोपीय राष्ट्र नष्ट होकर नये रूपमें प्रगट हुए। गत महायुद्धके कारण भी राष्ट्रोंमें भयंकर परिवर्त्तन उपस्थित हुए और अभी होते चले जा रहे हैं। राष्ट्रोंकी उत्पत्ति तथा ह्रासका राष्ट्रके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि राष्ट्रीयनियमों [पब्लिक ला] के अध्ययन॰ में इससे विशेष तौर पर सहायता मिलती है। 'समुत्थान' के विचारसे राष्ट्र तीन प्रकारके हैं।

(१) आरम्भिक राष्ट्र—आरम्भिक राष्ट्र वे हैं जो जंगली असभ्य जातियोंमें पहिले पहिल प्रगट होते हैं।

(२) नवीन राष्ट्र—भिन्न २ राष्ट्रवाली जातियां जब परस्पर मिलकर एक नया राष्ट्र बनाती हैं या किसी एक ही राष्ट्रको तोडकर जब कई एक राष्ट्र बनाये जाते हैं तो ऐसे बने राष्ट्रोंको नवीन राष्ट्र का नाम दिया जाता है।

(३) उत्पन्न राष्ट्र—उत्पन्न राष्ट्र वे हैं जिनकी संचालक शक्ति तथा गतिका आधार कहीं बाहर हो।

यहां इस बातका ख्याल रखना चाहिये कि शासन पद्धति सम्बन्धी परिवर्त्तनोंसे पुराने राष्ट्र बदल कर

शासन पद्धति सम्बन्धी सशोधन राष्ट्रको नष्ट नहीं करते।

नवीन राष्ट्रका रूप नहीं धारण करते। प्राचीन रोम एक-तंत्र राज्यसे कुलीन-तंत्र राज्यमें प्रविष्ट हुआ परन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि रोमका पुराना राष्ट्र नष्ट होकर नवीन राष्ट्र बन गया। राज्य

या शासन पद्धति सम्बन्धी परिवर्त्तन राष्ट्रीय जीवनकी गति या परिवर्त्तनको प्रगट करते हैं। इनसे राष्ट्रका परिवर्त्तन नहीं होता।—

§४ प्रारम्भिक राष्ट्र

रोमका समुत्थान — रोमका समुत्थान बहुत ही विचित्र है। भिन्न २ जातियों तथा श्रेणियोंके लोग एकत्र हुए। रोम्युलस तथा रेमसने नेता पदको प्राप्त किया। देखते देखते रोमने एक राष्ट्रका रूप धारण कर लिया। इसमें सबसे अधिक विचित्रताकी बात यह है कि रोम राष्ट्रके समुत्थानसे पूर्व लोग आस पास पहिलेसे ही रहते थे और एक ही देवताकी उपासना करते थे। सहसा उनमें परस्पर मिलकर रहनेकी इच्छा हुई और रोमने राष्ट्रका रूप धारण कर लिया।

एथेन्सका समुत्थान — एथेन्सका समुत्थान भी रोमसे बहुत कुछ मिलता है। एथिनियन लोग पहिले पहिल अटीकामें रहते थे। वहां वे लोग भिन्न २ परिवारमें विभक्त होकर कृषि तथा उद्यानका काम करते थे। समय समय पर वे एक ही देवताकी उपासना करते थे। थेस्यू नामक राजाने उनको एकत्र कर एथेन्समें बसाया। इसी समयसे एथेन्सने एक राष्ट्रका रूप धारण किया।

आइसलैण्ड — आइसलैण्डका लोकतन्त्रराज्य भी ध्यान देनेके योग्य है। शुरू शुरूमें वहां भिन्न २ जातियोंके लोग अपने अपने नायकोंके नीचे पृथक् पृथक् तौरपर रहते थे। उल्फिल्जादके प्रस्तावको गोडसने मन्जूर किया और शीघ्र ही आइसलैण्डको सब जातियोंने

एकत्र होकर एक राष्ट्रकी नींव डाली। उसी समयसे आइसलैण्ड भी एक राष्ट्र बन गया है।

कैलिफोर्नियाका उदय भी बहुत ही विचित्र है। सोने की खानोंके लोभमें संसारके भिन्न २ देशों के लोग वहां एकत्र हुए। संवत् १९०६ (१८४९) में प्रस्ताव पेश किया गया और वहां लोकतन्त्रकी स्थापना हो गयी। यहां राष्ट्रके उदयमें संपूर्ण जनताकी प्रबल इच्छाको ही कारण समझना चाहिये।

कैलिफोर्निया

कभी कभी यह भी देखा गया है कि बहुतसे लोग इधर उधर फिरते हुए तथा एक दूसरेके साथ खान पान करते हुए एक जातिके रूपमें संगठित हो जाते हैं और इसके बाद किसी भूमि पर जा बसते हैं। दूसरे देशोंके जीतनेपर भी बहुत बार यही घटना उपस्थित हो जाती है। मुसलमानोंका भारतमें प्रवेश इसीका उदाहरण है। देखनेमें तो युद्ध एक नाशक शक्ति है परन्तु वास्तवमें इसीके द्वारा नये राष्ट्र उत्पन्न होते हैं।

भूमिपर बसना

युद्ध द्वारा उत्पन्न राष्ट्रोंका अन्तरीय तथा बाह्य विक्षोभों-को दूर करनेमें ही बहुत सा समय खर्च हो जाता है। विजयी तथा पराधीन लोगोंका सम्बन्ध तबतक खिचा रहता है जबतक वे एक दूसरेसे नहीं मिल जाते। आश्चर्यकी घटना है कि हिन्दुओंतथा मुसलमानोंका पारस्परिक सम्बन्ध कई सदियोंतक साथ साथ रहनेपर भी सन्तोष-

राष्ट्र निर्माणमें युद्धका भाग

अनक न हुआ। किन्तु लखनऊकी कांग्रेसके पश्चात् इन दो जातियोंमें एकताके जो चिह्न देख पड़े एवं आज उसमें जो वृद्धि हो गयी है, वह देशके लिये कल्याणकी बात है।

युद्ध फगड़े निपटानेका पाशविक साधन है

युद्ध एक प्रकारका पाशविक साधन है। इससे न्याय की आशा करना दुराशामात्र है। यह होते हुए भी प्राचीन कालसे अबतक लोग इसीको निर्णय तथा झगड़ोंके निपटानेका एक मात्र साधन बनाते रहे हैं। ट्यूटन लोगोंका तो यहांतक विश्वास था कि जो सैन्यपर आश्रित हो उसीको ईश्वर विजय देता है। हार जीत तो शारीरिक बल चातुर्य, या वैज्ञानिक कौशल तथा शस्त्रास्त्रकी उन्नतिके सूचक है। जो जीतता है वह हारने वालोंसे ऊपर लिखी बातोंमें किसीमें अधिक होता है। यह होते हुए भी संसारकी सभ्य जातियां 'युद्ध' जैसे घृणित क्रूर साधनको छोड़नेके लिये अभी तक तैयार नहीं हैं।

इंग्लैण्डपर साम्राज्य वाद तथा सैनिक वादका भूत

जर्मनोंको पराजित कर इंग्लैण्डकी भूख और भी अधिक बढ़ गयी। उसने सैनिक शक्तिके महत्वको पूरी तौरपर समझ लिया। भारतसे मिश्र तथा कुस्तुन्तुनिया पयन्त सभी प्रदेशोंको शस्त्र तथा सैनिक बलसे काबूमें रखनेका यत्न कभी भी न्याय संगत नहीं कहा जा सकता।

वास्तविक बात तो यह है कि पुराना शक्ति-सिद्धान्त (Might is right) अभी तक ज्योंका त्यों प्रचलित है।

शक्ति शाली राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रोंके हितका कुछ भी ख्याल नहीं करते।

उपनिवेशोंके बसानेमें तो यूरोपीय राष्ट्रोंने और भी अधिक अत्याचार किये हैं। अफ्रीका अमरीका तथा आष्ट्रेलियाके पुराने निवासियोंकी भूमिको जबरन छीनना और उनके साथ क्रूरता करना अत्यन्त शोक जनक है। अस्तु। इन सब उचित तथा अनुचित तरीकोंसे नये राष्ट्रोंका विकास होता है। अतः यहांपर इन सब तरीकोंका उल्लेख कर दिया गया है।

उपनिवेशोंके बसाने में अत्याचार

§५. *नवीन राष्ट्र*

छोटी २ रियासतें किसी भी कारणसे जब आपसमें मिलजाती हैं और राष्ट्रात्मकराष्ट्र (Federal State) के रूपमें प्रगट होती हैं तब हम उनको नवीनराष्ट्र कहते हैं। यह तबतक नहीं होता जब तक एक ऐसी राष्ट्रात्मक शासन-पद्धति न बना ली जावे जिसको सभी राष्ट्र स्वीकृत करते हों।

नवीन राष्ट्रकी उत्पत्ति

हंसनगरोंका संगठन, हालैण्डके राष्ट्रोंका परस्पर मिलना और स्विस राष्ट्रोंका एकत्र होना इसीके उदाहरण हैं। राष्ट्रात्मकराष्ट्र विषमराष्ट्र (Complex State) समझा जाता है, क्योंकि इसमें राष्ट्रोंका अपना अपना अस्तित्व पूर्ववत् बना रहता है।

विषमराष्ट्र

राष्ट्रात्मक राष्ट्रके अन्तर्गत राष्ट्र यदि दृढ़तासे आपसमें मिल जायँ और उनका संगठन भी पूर्णताको प्राप्त करे तो वहां शासनपद्धतीय नियमों (Constitutional law) की नींव पड़ने लगती है। इसी स्थानपर राष्ट्रात्मकराष्ट्र दो रूपोंमें प्रगट होते हैं।

शासन पद्धतीय नियम

(१) पूर्णराष्ट्रात्मकराष्ट्र (Federation of State)

(२) अपूर्णराष्ट्रात्मकराष्ट्र (Confederation of State)

पूर्णराष्ट्रात्मकराष्ट्र वही है जिसमें मुख्यराज्यकी शक्ति पूर्ण हो और उसकी स्थिति भी अपरिवर्त्तन शील हो। मुख्य राज्य छोटे छोटे राज्योंका पूरीतौर पर अंग बन गया हो। संवत् १८४४ (सन् १७८७) के राज्य-नियमके बाद संयुक्त प्रान्त अमरीका पूर्णराष्ट्रात्मक राष्ट्र हो गया। संवत् १९०५ (सन् १८४८) में अमरीकाका अनुकरण करने हुए स्विटजर्लैंड भी पूर्णराष्ट्रात्मकराष्ट्र बन गया।

पूर्णराष्ट्रात्मक राष्ट्र

दोनों ही देशोंमें राष्ट्रोंका संगठन• उनका परिणाम होनेके स्थानपर स्वाभाविक बन गया है। परन्तु अपूर्ण राष्ट्रोंमें यह बात नहीं होती। वहां एक राष्ट्र मुख्य बनकर संपूर्ण राष्ट्रोंके शासनका काम करता है। संवत् १९०५ (सन् १८४८) तक स्विट्जर्लैंडकी और संवत् १८७२ (सन् १८१५) तक जर्मनीकी यही दशा थी। वे अपूर्णराष्ट्रात्मक राष्ट्रही थे।

अपूर्णराष्ट्रात्मक राष्ट्र

राष्ट्रात्मक राष्ट्रोंके लिये सबसे अधिक अनुकूल प्रतिनिधि-तन्त्र शासन-पद्धति है। भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। उसमें अनेक राष्ट्र हैं। स्वराज्यके दिनोंमें भारतवर्षको राष्ट्रात्मक राष्ट्रके रूपमें संगठित होकर प्रतिनिधितन्त्र शासन पद्धतिका ही अवलम्बन करना पड़ेगा। उसको अन्य यूरोपीय राष्ट्रात्मक राष्ट्रोंके सदृश अमरीकाका अनुकरण करना पड़ेगा।

राष्ट्रात्मकराष्ट्रोंकी शासन-पद्धति अमरीकाके सदृश होनी चाहिये।

संसारमें ऐसे भी राष्ट्रात्मकराष्ट्र विद्यमान हैं जो एक राजाके द्वारा शासित हैं। अति प्राचीन कालसे मध्यकालतक भारतीय राष्ट्रोंका संगठन किसी न किसी राजापर ही निर्भर रहता था। इस प्रकारका संगठन स्थिर नहीं होता। जबतक कोई शक्तिशाली योग्य राजा सिंहासनपर होता है, राष्ट्रोंका संगठन नष्ट नहीं होता। अयोग्य तथा निःशक्त व्यक्तिके राजा होते ही संगठन चूर चूर हो जाता है। चन्द्रगुप्त मौर्यसे अशोक पर्यन्त भारतवर्ष संगठित रहा। उसके बाद उसका संगठन छिन्न भिन्न हो गया।

एकतन्त्र-राज्य-पद्धतिके दोष

सैनिकबलके सहारे कबतक राष्ट्र आपसमें सम्मिलित रह सकते हैं? समान अधिकार तथा समान व्यवहारही एक ऐसी वस्तु है जो राष्ट्रोंको आपसमें जोड़ सकती है। प्रतिनिधि तन्त्र शासनपद्धतिके सिवाय और कोई तरीका इस बातको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है।

प्रतिनिधि तन्त्र शासन पद्धतिके गुण

राष्ट्रोंके संगठनके सदृश ही राष्ट्रोंका विभाग भी ध्यान देनेके योग्य है।

(१) जातीय विभाग—एक राष्ट्रमें जब भिन्न भिन्न जातिके लोग बस जाते हैं तब उसमें जातीय विभागको समस्या उत्पन्न हो जाती है। यदि उनमें एकताका सूत्र सर्वथा नष्ट हो गया हो तो भिन्न २ जातियां भिन्न भिन्न राष्ट्र बनाने पर तत्पर हो जाती हैं। सिकन्दर तथा नैपोलियनका जातीय संगठन उनकी मृत्युके बाद ही लुप्त हो गया। हालैण्ड से बेलजियमका सन् १८३० में पृथक् हो जाना भी इसी रहस्यसे परिपूर्ण है।

(२) वंशानुक्रमिक विभाग—मध्यकालमें संसारके सभी देशोंमें राष्ट्र राजाके भिन्न २ पुत्रोंमें विभक्त हो जाता था। यह तरीका कभी भी राष्ट्रका हित-वर्धक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे छोटे छोटे राष्ट्रोंकी संख्या बढ़ जाती है और किसी एक प्रबल शक्तिवाले विदेशीय राष्ट्रके द्वारा उनका विजय होना सुगम हो जाता है।

(३) राष्ट्रकी स्वतन्त्रता—यह भी सधारणतः देखा गया है कि भिन्न २ राष्ट्रसे पृथक हो कर स्वतन्त्र हो जाना इसी विभागका उदाहरण है। इस प्रकारका विभाग सुगम काम नहीं है, क्योंकि इस काममें प्रायः भयंकर लड़ा-

इयां लड़नी पड़ती हैं। आयर्लैण्डकी खून खराबियां किसीसे भी छिपी नहीं हैं

§६ उत्पन्नराष्ट्र।

उत्पन्न राष्ट्रके दृष्टान्त

"इटली, लघु एशिया, सिसली आदि प्रदेशोंमें यूनानने अपने बहुतसे उपनिवेश बसाये थे। ये उपनिवेश पूरे तौरपर स्वतन्त्र नहीं थे। इनकी प्रभुत्व-शक्ति मातृभूमिके पास ही अधिकार में थी। यही कारण है कि इनको नवीन राष्ट्रका नाम न देकर उत्पन्न राष्ट्रका ही नाम दिया जाता है।

रोम उत्पन्नराष्ट्रका एक नया नमूना है।

रोम भी यूनानियोंका ही एक उपनिवेश था। परन्तु वह सर्वथा स्वतन्त्र होकर साम्राज्य-वृद्धि में प्रवृत्त हुआ। इस लिये उसको उत्पन्न राष्ट्रका एक नया नमूना समझना चाहिये।

प्राचीन तथा नवीन उपनिवेशोंमें भेद।

प्राचीन उपनिवेशोंसे आधुनिक उपनिवेश सर्वथा भिन्न हैं। अमरीका इंग्लैण्डसे जुदा हो गया। कनाडा आदि भी बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं। इनकी उपमा उन बालकोंसे दी जा सकती है जो युवावस्थामें अपने माता पितासे जुदा होकर अलग रहना शुरू करते हैं; जावा भारतका ही उत्पन्न राष्ट्र है।

सम्राट्के अधिकार-का राष्ट्रकी उत्पत्ति में भाग।

यूरोपमें मध्यकालके अन्दर साम्राज्यके भिन्न २ प्रदेश साम्राज्यसे अधिकार प्राप्तकर पृथक् राष्ट्रका रूप धारण करलेते थे। एक सदीके पूर्व जो साम्राज्यके अंग थे, देखते देखते ही वे एक पृथक् राष्ट्र बन गये। इंग्लैण्डने आजकल कनाडा आदिको बहुत कुछ स्वतन्त्रता दे दी। ये सब उत्पन्न राष्ट्रके भिन्न २ उदाहरण ही हैं।

विजयके द्वारा भी प्रायः ऐसे हो राष्ट्र बनते हैं और बिग- विजय ड़ते भी हैं। नैपोलियनने पुराने राष्ट्रोंको चूर चूरकर नये नये राष्ट्रोंको उत्पन्न किया था।

§७. राष्ट्रका ह्रास।

संसारका इतिहास साक्षी है कि राष्ट्रका जीवन अमर नहीं है। भिन्न २ राष्ट्रोंके खण्डहरोंसे भूमि भरी पड़ी है। व्यक्तियोंके सदृश ही राष्ट्रकी मृत्युके भिन्न २ कारण हैं। लोगोंका ख्याल है कि राष्ट्र अमर हो सकते हैं। यदि अभी-तक उनकी मृत्यु होती रही है तो इसका मुख्य कारण यह है कि जातियोंने सदाचार तथा धर्मका मार्ग छोड़ दिया। परन्तु यह विचार सत्य नहीं है, क्योंकि जातियां सदाचार तथा धर्मके मार्गपर चलती हुई भी नष्ट हो चुकी हैं। यह भी देखनेमें आया है कि विपरीत मार्ग पर चलते हुए भी राष्ट्र शीघ्र मृत्युको प्राप्त नहीं हुए। अधिक क्या मनुष्योंमें भी तो यह नियम त्रैकालिक सत्य नहीं है।

व्यक्तियोंके सदृश राष्ट्रका ह्रास भी होता है।

दुष्टसे दुष्ट तथा सदाचार हीन पुरुषोंकी आयु अक्सर बहुत ज्यादा देखा गया है और धर्म्मात्मा सदाचारी पुरुषोंको शीघ्र ही मरते हुए देखा है। दुःशासन तथा कुप्रबन्ध भी राष्ट्रकी मृत्यु के कारण नहीं। ऐसा हालतोंमें भी प्रायः राष्ट्र चिरकालतक जीवित रहते हैं। प्राचीन शास्त्रकारोंका विश्वास था कि वर्णसंकरतासे राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं। आश्चर्य्यकी बात है कि अमरीकाकी शक्ति

वर्णसंकरता राष्ट्रकी मृत्युका कारण नहीं है।

शाली बननेमें वर्ण-संकरता एक मुख्य कारण है। असली बात तो यह है कि राष्ट्र भी मनुष्यके सदृशही जरा-मरण-ग्रस्त है।

राष्ट्रोंमें मात्स्य न्याय

उन्नतिशील राष्ट्र छोटे छोटे राष्ट्रोंको निगल कर शक्तिशाली बन जाते हैं। जबतक यह बात मौजूद है तब तक राष्ट्र अमर हो हो कैसे सकते हैं? बहुतोंका ख्याल है कि यदि सारा संसार एक ही राष्ट्र बन जावे और एक ही राज्यके द्वारा शासित होने लगे तो राष्ट्रका जीवन मृत्युसे बच सकता है। परन्तु यह हो ही कैसे सकता है? मत-भेद तथा उमंग जबतक राष्ट्रोंमें विद्यमान है, तबतक सार्वभौम संगठनकी आशा करना दुराशा मात्र है।

राष्ट्रोंमें स्वार्थ तथा लोभ।

इस महायुद्धने ही यह स्पष्ट तौर पर दिखा दिया है कि स्वार्थ तथा लोभके वश राष्ट्र कैसे कैसे भयंकर अन्याय पूर्ण काम कर सकता है। रूमका अग भंग, जमंनीकी आर्थिक लूट और आस्ट्रिया हंगरीको भिन्न २ राष्ट्रोंमें विभक्त करना इत्यादि इस बातके साक्षी हैं कि राष्ट्रोंका पारस्परिक सम्बन्ध कहां तक बिगड़ा हुआ है।

राष्ट्रकी मृत्युके कारण

राजनीतिज्ञ राष्ट्रोंकी मृत्युके निम्नलिखित कारण बतलाते हैं।

(१) अराजकता—

राष्ट्रके संगठनको बदलते और राज्यका परिवर्तन करते वक्त कुछ समयके लिये अराजकता उत्पन्न हो जाती है। यदि राज्यके बदलते ही और राष्ट्रके पुराने संगठनके विनष्ट होते ही नया राज्य स्थापित न हो और न राष्ट्र ही संगठित हो तो

राष्ट्रके नाशकी संभावना हो जाती है। नियंत्रण-रहित होकर प्रत्येक व्यक्तिका स्वच्छन्द विचरना जाति तथा राष्ट्रका ख्याल छोड़ कर काम करना और स्वार्थ-त्यागके स्थान पर स्वार्थसे काम करना बड़ी भयंकर घटना है। यदि यह स्थिति चिरकालतक रहे तो राष्ट्रपर विदेशी लोगोंका आक्रमण हो जाना संभव है। यदि यह न हो तो भी, राष्ट्रका जीवन प्रबल अराकजतासे नष्ट हो सकता है। सौभाग्यकी बात है कि अभीतक ऐसी अराजकता उत्पन्न नहीं हुई। कुछ समयके विश्रामके बाद राष्ट्र पुनः संगठित हो गये और उनमें नवीन राज्यकी नींव पड़ गयी। यह बात आर्य जाति-के लोगोंमें विशेष रूपसे है। जिस प्रकार मछली पानीसे और मनुष्य वायुसे अलग नहीं हो सकता उसी प्रकार आर्य जातिके लोग राजनीतिक संगठनसे पृथक् नहीं हो सकते। राजनीतिक संगठन उनका स्वाभाविक गुण है। इतिहासमें ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं मिलता जब कि यह जाति राज-नीतिक संगठनको छोड़ कर जंगलियोंकी तरह इधर उधर फिरने लगी हो।

(२) राष्ट्र-परित्याग--एक राष्ट्रको छोड़कर दूसरे राष्ट्रमें बस जाना कभी कभी भयंकर घटनाका रूप धारण कर लेता है। इससे बहुत बार राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं। बहुतसे जंगली झुण्डोंने अपने राष्ट्रको छोड़ कर रोमन साम्राज्यमें प्रविष्ट होना चाहा परन्तु जब वे इसमें सफल न हो सके तो वे दोनों ओरसे गये। वे अपना पुराना राष्ट्र भी न पा सके और न नया राष्ट्र ही बना सके।

(३) विजय—एक स्वतन्त्र राष्ट्रके पराधीन होते ही पुराना राष्ट्र नष्ट हो जाता है और बहुत बार नया राष्ट्र भी नहीं बनता । रोमने बहुतसे राष्ट्रोंको अपने में ही मिला लिया और उनके पृथक् अस्तित्वको मटिया-मेठ कर दिया। दुर्बल राष्ट्रोंका अधीनता स्वीकार करना एक प्रकारसे राष्ट्रको पराधीन करना है। पराधीन राष्ट्रोंको अपने आपको नष्ट होनेसे बचानेका यत्न करना चाहिये, क्योंकि विजयी राष्ट्र उसको अपना ही अंग बनाकर नष्ट कर सकता है।

(४) सम्मिलन—छोटे छोटे राष्ट्र जब अपने आपको (सम्मिलन द्वारा) किसी एक बड़े राष्ट्रके अंग बना लेते है तो वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि सम्मिलन राष्ट्रनाशका एक मुख्य साधन माना जाता है।

(५) पार्थक्य—एक बड़ा राष्ट्र कई छोटे छोटे राष्ट्रोंमें विभक्त होकर स्वयं नष्ट हो सकता है। कभी कभी बड़ी बड़ी रियासतें एक राष्ट्रको आपसमें बांट कर नष्ट कर देती हैं। पोलेण्डका बांटना इसीका ज्वलन्त उदाहरण है। ईरानको बांटनेके लिए रूस तथा इंग्लैण्डकी सन्धि इस बातकी साक्षी है कि इस सभ्य युगमें भी अन्याय तथा अत्याचारके काम पूर्ववत् ही किये जा सकते हैं। मित्रों द्वारा रूसकी कतर-ब्योंत भी उसके नाशका कारण होगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

तीसरा परिच्छेद ।

राष्ट्रके समुत्थानमें सामाजिक परिस्थितिका भाग ।

§८. *मनुष्यसमाज ।*

मनुष्य समाज अभीतक पूर्ण रूपसे संगठित नहीं हुआ। भिन्न २ देशोंके लोग सार्वभौम भ्रातृभाव-की दृढ रज्जुमें अभीतक नहीं बांधे गये। सार्वभौम राष्ट्र तथा सार्वभौम राज्यके लिये नयी नयी कल्पनाएं की गयीं। समय समय पर इसकी प्राप्तिके लिए यत्न भी किये गये, परन्तु सफलता अब भी कोसों दूर है।

मनुष्य समाजकी एकता तथा भेद।

भिन्न भिन्न देशोंके लोग अपने आपको सार्वभौम राष्ट्र का अंग न समझ कर एक छोटे परि पूर्ण राष्ट्रका अंग समझते हैं। इससे संसार सैकड़ों भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें विभक्त हो गया है। जाति तथा जातीयताके भेद-भावपूर्ण विचार इसीके परिणाम हैं। धर्म्म-प्रचारकोंने इसको दूर करनेका यत्न किया। महात्मा बुद्धने अहिंसा तथा प्रेमके सिद्धान्तका प्रचार किया। संसारके संपूर्ण मनुष्योंको भाई भाईके समान प्रेमसे रहनेके लिये आदेश किया,। परन्तु संसार पुनः उसी प्राकृतिक भेद-भावमें रंग गया।

आज कल तो लोग जातीय भेदको राष्ट्रीय उन्नतिका मुख्य साधन समझते हैं। संसार भिन्न २ रंगोंके मनुष्यों

तथा जातियोंसे परिपूर्ण है। प्रश्न उठता है कि क्या यह भेद स्वाभाविक है अथवा संसारकी संपूर्ण जातियां एक ही प्रधान जातिकी शाखाएँ हैं? यदि यही बात है तो जातियोंमें इतना भेद क्यों? इतिहासके अनुशीलनसे मालूम पड़ता है कि प्राचीनसे प्राचीन कालमें संसार भिन्न रंग वाली जातियोंसे परिपूर्ण था। इस भेदका रहस्य क्या है? अभी-तक राजनीतिज्ञों तथा वैज्ञानिकोंको पूरी तरहसे पता नहीं चला।

वर्णसंकरताको बचाते हुए भी संसारकी कोई भी जाति इससे नहीं बची। आज कल संसारमें मुख्यतः चार रंगोंकी जातियां मौजूद हैं। (१) गोरे रंग वाली (२) काले रंग वाली (३, पीले रंग वाली (४) लाल रंग वाली। बहुतसे विचारक इन चारों रंग वाली जातियोंको मानसिक शक्तिको समान नहीं समझते। उनका ख्याल है कि जातियोंकी भिन्न २ उन्नति तथा योग्यताका रहस्य इसीमें है।

संसारकी चार मुख्य जातियां।

अति प्राचीन कालमें यूथोपियाके काले रंगकेलोग यूरोप तथा एशियाके दक्खिनी भागमें बसे हुए थे। इधर उधरसे धक्का खाते हुए अफ्रीकाको हो इन्होंने अपना स्थिर निवास-स्थान बनाया। हजारों वर्ष गुजर गये। परन्तु इन्होंने अबतक किसी प्रकारकी भी राजनीतिक उन्नति नहीं की। ये कहींपर भी गोरे लोगोंकी टक्करमें नहीं खड़े हुए बुद्धि तथा इच्छा-शक्तिमें संसारके अन्य रंगके लोगोंसे ये बहुत ही पीछे हैं। बहुत पुराने समयमें भारतके आर्यों

(१) यूथोपियाके काले लोग

का और मिश्रके 'सैमाइट्स' लोगोंका इनपर प्रभुत्व था। अभी तक यह हालत है कि अफ्रीकाके नीग्रो लोगोंका एकतन्त्रराज्य निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारका दूसरा नमूना है। फरांसीसियोंकी देखा देखा नीग्रो लोगोंका 'हेती' प्रजातन्त्र राज्यका स्थापित करना तथा सफलतापूर्वक चला लेना प्रशंसनीय है।

(२) अमरीकाके लाल रंगके लोग।

अमरीकाके लालरंगके लोग अफ्रीकाके काले लोगोंसे बहुत बढ़े चढ़े हैं। यह होते हुए भी वे राजनीतिक संगठनमें बहुत पीछे हैं। यूरोपके गोरे लोगोंके अमरीकामें पहुंचनेसे पूर्व पेरू तथा मेक्सिकोके लोग बहुत ही अधिक सभ्य थे। महाशय ब्लुटश्लीका विचार है कि ये लोग आर्यलोगोंकी ही एक शाखा हैं। जिन २ स्थानोंमें इनको सभ्यता-वृद्धिका अवसर न मिला, वहां २ लोग पुनः असभ्यावस्थामें पहुच गये।

(३) चीन तथा जापानके पीले लोग

पीले रंगके लोगोंने बहुत उन्नति की। ये लोग प्रायः एशियामें ही रहे। इनकी एक शाखा मलायाकी ओर और दूसरी शाखा मंगोलियाकी ओर बढ़ी। मंगोलोंने बड़े २ साम्राज्योंकी स्थापना की। एशियाके मध्य भागको इन्होंने जीता। गोरे लोगोंके साथ इनका विवाह चिरकालसे चला आया है। हूनों तथा तुर्कोंको अपेक्षा जापान तथा चीनने विशेष उन्नति की। इन्होंने राजनीति तथा दर्शन शास्त्रको अपने ढंगकी पूर्णता दी। कृषि, व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा तथा पुलिस विभागके लिए संसार इनका कृतज्ञ है।

(४) भारत तथा यूरोपकी गोरे रंग वाली जातियां ।

गोरे लोगोंका दर्जा संसारके सब रंगके लोगोंसे ऊँचा है। भारत वर्षके देवों और ईरानके असुर निवासियोंने संसारको बहुत कुछ दिया। राजनीति, दर्शन शास्त्र, धर्म्म शास्त्र ज्योतिष, व्याकरण आदि विद्याओंका आविष्कार गोरे लोगोंने ही किया है। इनकी दो मुख्य शाखाएं हैं। (१) सेमिटिक (२) आर्य। सेमिटिक लोगोंनें अपने धर्म्म प्रचारकी ओर ही विशेष ध्यान दिया। मुसल्मान, यहूदी तथा ईसाई धम्मका विकास इन्हीं लोगोंसे हुआ। आर्य्य जाति संसारकी सब जातियोंसे आगे बढ़ गयी। धर्म्म शास्त्र, दर्शन शास्त्र, तथा व्याकरण आदिमें भारतके आर्य्योंने संसारका बहुत कल्याण किया। ये लोग जब यूरोपमें पहुंचे, तो अवस्थाओंके अनुकूल होनेसे इन्होंने राजनीति शास्त्र, रासायनिक तथा भौतिक विज्ञानको चरमावस्था-तक पहुचाया।

रंग तथा जातीय भेद स्वाभाविक नहीं

संपूर्ण उन्नति आर्य्यों तथा पीले रंगके लोगोंने की। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। यह होते हुए भी रंगका भेद स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। भूमि जलवायु तथा अन्नका भेद ही इसमें मुख्य कारण है। अधिकसे अधिक पांच हजार वर्षोंतकके इतिहासका पता चलता है। मालूम नहीं मनुष्य समाजके विकासको कितने हजार वर्ष गुजर चुके। शुरू २ में क्या था—इसका अनुमान करना सर्वथा कठिन है। महाशय ब्लुन्टश्लीने रंग भेदको स्वाभाविक समझनेमें भयंकर भूल की है। यह भूल स्वाभाविक

थी। क्योंकि भूमि, जल, वायु तथा अन्नका भेद ही सभ्यता तथा रंगके भेदका मुख्य कारण है। खास २ प्रकारकी सभ्यताका खास २ प्रकारके रंगके साथ स्थिर सम्बन्ध हो जाना कुछ भी आश्चर्यप्रद नहीं। परन्तु इस आधारपर रंग तथा जातीय भेदको ईश्वरीय सृष्टिका परिणाम समझना और अपने गोरे रंगपर अभिमान करना कुछ भी उचित नहीं मालूम पड़ता।

३९. जनता तथा जाति।

जनता तथा जातिमें भेद।

जनता तथा जातिमें बड़ा भेद है। मनुष्य जब किसी एक प्रकारकी सभ्यताको उत्पन्न करते हैं और एक सदृश जीवन व्यतीत करने लगते हैं, जनताका विचार तभी शुरू होता है। पारस्परिक संगठन या सम्मिलन जनसमूहको 'जनता' में परिवर्तित नहीं कर सकते। सदियोंसे एक ही देश, प्रथा, धर्म्म तथा एक ही वायुमण्डलमें लोगोंके रहनेसे उनके स्वभाव, विचार तथा रहन-सहनमें ऐसी सदृशता उत्पन्न होती है जो उनको दूसरे जनसमूहोंसे सर्वथा पृथक् कर देती है और उनको एक 'जनता' बना देती है।

जाति शब्दका राजनीतिक स्वरूप

'जाति' का व्यवहार राजनीतिक है। राष्ट्रके विकासके साथ ही इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक विशेष प्रकारकी शासन-पद्धतिमें संगठित होकर और स्वदेशके प्रेमसे प्रेरित होकर, अपने ही स्वार्थको सामने रखते हुए उन्नति करनेकी इच्छुक जनता 'जाति' का रूप धारण करती है।

किसी मनुष्यसमूहको 'जनता' तथा एक जातिका रूप तभी प्राप्त होता है जब वह निम्नलिखित बातोंसे प्रभावित होता है ।

(१) धर्मका प्रभाव—अति प्राचीन कालमें एशियाके अन्दर और मध्यकालमें यूरोपके अन्दर 'धर्म्म' का लोगोंपर बहुत ही अधिक प्रभाव था। विधर्मियोंको लोग घृणाकी दृष्टिसे देखते थे और बहुत बार अपने देशमें घुसने नहीं देते थे। दैववश जब विधर्मी लोग किसी राष्ट्रमें बस भी जाते थे तो भी वे संपूर्ण राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारोंसे वञ्चित रखे जाते थे। भारतवर्षमें अभीतक हिन्दू मुसलमानोंके पारस्परिक अनुचित व्यवहारका मुख्य कारण यही है। बहुत संभव है कि ईरानी असुरों तथा भारतीय आर्य्योंके पार्थक्यका मुख्य कारण भी धर्म्म ही हो। बौद्धों तथा पौराणिकोंके पारस्परिक विरोधका मुख्य कारण भी यही था। यहूदी लोग भी धर्म्मके प्रभावसे इस हद्द तक रंग गये थे कि उन्होंने बैबिलोनियाके कारागारमें, रोम तथा रोमन साम्राज्यके अन्तर्गत अलक्जन्द्रियामें सैकड़ों कष्ट उठाते हुए भी अपने धर्म्मका परित्याग नहीं किया। यहूदी राष्ट्रके नाश पर भी उन्होंने अपने आपको धर्म्मके बलपर अन्ततक संगठित

रखा । आजकल 'संगठन' में धर्मका भाग दिनपर दिन कम होता जाता है । स्वदेश, स्वजाति तथा स्वराज ही आज कल संगठनके मुख्य आधार हैं । जर्मनीमें कई धर्मके लोग थे, आस्ट्रिया हंग्रीमें भिन्न २ जातियों तथा भिन्न २ खूनके लोग थे, इसपर भी वहांके लोग जाति तथा जनताके रूपमें संगठित हो ही गये ।

(१) भाषाका प्रभाव—मनुष्योंको भिन्न २ समूहोंमें संगठित करनेका काम धर्मसे भी बढ़कर भाषाने किया है । जनता तथा जातिका आरंभ 'समान भाषा' के साथ विशेष तौरपर जुड़ा हुआ है । एक भाषा-भाषी लोग जब भिन्न २ स्थानोंमें जाकर बस जाते है तब दूसरे लोगोंसे मिलनेसे, नयी परिस्थिति तथा नये वायुमण्डलमें पलनेसे और मातृ-भूमिसे सर्वथा दूर हो जानेसे उनकी भाषा मातृ-भाषासे भिन्न हो कर नया रूप धारण कर लेती है । एक ही भाषा बोलने वाले लोग अपने आपको एक दूसरेका भाई समझने लगते हैं और सुख दुःखमें साथ देनेमें अधिक समर्थ हो जाते हैं ।

हृदयगत उद्वेग तथा विचारको दूसरोंपर प्रकाशित करनेका भाषा एक मुख्य साधन है । एक परिवारसे दूसरे परिवारमें और एक सन्ततिसे दूसरी सन्ततिमें वही भाषा

समान रूपेण जाती है। भाषाकी एकता जातीयताको जीवित रखती है और जनताको एक दूसरेसे जुदा नहीं होने देती है। भाषाका महत्व जातीयतामें यहांतक है कि भिन्न २ राष्ट्रोंके लोग परराष्ट्रकी भाषा ग्रहण कर, अपनी पुरानी जातीयताको छोड़ कर नयी जातीयताको ग्रहण कर लेते हैं। यही बात थी जिसने जर्मनीके आस्ट्रगोथों तथा लम्बार्डोंको इटैलियन और सेल्ट्स, फ्रैंक्स तथा बर्गण्डियन्जको फरांसीसी बना दिया।

यूरोपमें जातीयताके भावोंके बढ़नेका मुख्य कारण भिन्न २ राष्ट्रोंकी अपनी अपनी भाषाएं हैं। जातीय साहित्य-परही जातीयताकी किसी हद्द तक नींव है। 'किसी' हद्दतक-का शब्द इस लिए कहा गया है कि बहुत बार जातीयताके भाव भिन्न-भाषाभाषी लोगोंमें भी जागृत हो जाते हैं। दृष्टान्त स्वरूप ब्रिटन्स तथा बास्कस नामक जातियां भिन्न भाषा बोलती हुई और फरांसीसी भाषाको विदेशीय भाषा समझती हुई भी अपने आपको फरांसीसी समझती हैं और फ्रान्सकी जातीयताके भावोंसे पूरी तरह रंगी हुई हैं। इसका मुख्य कारण एक राष्ट्र तथा एक शासनपद्धतिमें रहना, एक स्वार्थसे प्रेरित होकर काम करना और सुख-दुःखमें समान तौरपर भाग लेना ही है।

(३) स्वभाव, देश-प्रथा तथा राजनीतिक एकताका प्रभाव—उपरि लिखित दृष्टान्तसे ही स्पष्ट है कि स्वभाव, देशप्रथा तथा राजनीतिक एकता भी जनता तथा जातीयताके उत्पन्न करनेमें बड़ा भारी कारण है। भारतमें भाषा तथा धर्मके

> भिन्न भिन्न होनेपर भी लोगोंमें जातीयताके भाव उत्पन्न हो रहे हैं । इसका मुख्य कारण राजनीतिक तथा भौगोलिक एकता है । आस्ट्रिया-हंग्रीमें भिन्न जाति तथा भिन्न धर्म्मके लोग रहते थे । इसपर भी वहां राष्ट्रात्मक राज्यकी नींव पड़ गयी, क्योंकि वहां समान विपत्ति तथा समान स्वार्थसे प्रेरित होकर लोग एक जनतामें परिवर्तित हुए और एक शासन-पद्धतिमें संगठित हो गये ।

उपरि लिखित दृष्टान्तोंसे सिद्ध है कि धर्म्म, भाषा, जाति, रीति, रिवाज, स्वभाव आदिके भिन्न होते हुए भी समान भय तथा समान स्वार्थके कारण एकताके निमित्त इच्छुक जनता आपसमें संगठित हो जाती है। ऐसे सगठनसे एक नये ढंगकी जातीयता उत्पन्न होती है। अमरीका तथा इंग्लैंडका इतिहास इसीका साक्षी है ।

चिरकाल तक एक ही राष्ट्रमें रहते हुए भिन्न भिन्न जातिके लोग एक नये ढंगकी सभ्यताको जन्म देते हैं। भारतवर्ष भिन्न २ जातिके लोगोंसे परिपूर्ण है । उन जातियोंके रीति-रिवाज तथा आचार-व्यवहारके नियम भी आपसमें नहीं मिलते हैं। यह होते हुए भी वे ऐसे अक्षय दृढ़ तन्तुसे आपसमें जुड़े हुए हैं जो उनको सारे संसारके लोगोंसे पृथक् कर रहा है ।

संगठन तथा सभ्यताकी उत्पत्तिमें मानुषिक यत्नके साथ साथ प्राकृतिक यत्न भी सम्मिलित हैं। प्रकृति

अपने अज्ञेय नियमोंके सहारे एक ही राष्ट्रके भिन्न २ निवासियोंमें वह समता उत्पन्न करती है जो भिन्न २ राष्ट्रके लोगोंके सामने आते ही बड़ी सफाईसे झलकने लगती है। यह समता ही विशेष रूपमें सभ्यताके नामसे पुकारी जाती है। भारतीय सभ्यता तथा आंग्ल सभ्यतामें जो भेद है वह इस समताका ही भेद है। यही समता मनुष्योंमें प्रकट होकर जाति तथा जातीयताको जन्म देता है। भिन्न २ कार्य्योंमें लगी हुई जनता एक राष्ट्रमें अंग्रेज जातिका रूप धारण करती है और दूसरे राष्ट्रमें जर्मन जातिका। यह क्यों? यह इसी लिये कि भिन्न २ राष्ट्रोंकी भिन्न २ सभ्यतामें पलकर जनता भिन्न २ रूप धारण करती है। प्राकृतिक नियमोंसे उनका स्वभाव, रीति-रिवाज तथा भाषा भी परस्पर भिन्न हो जाती है। एक ही जनता समयके चक्रमें पड़कर भिन्न २ जातिके नामसे पुकारी जाने लगती है। अंग्रेज, जर्मन, फरांसीसी, स्विस तथा भारतीय एक ही आर्य्य जातिकी शाखाओंसे विकसित हुए हैं। परन्तु आपसमें इनका कितना ज्यादा फरक है यह किसीसे भी छिपा नहीं है।

§१०. जातियोंके अधिकार।

संसार भिन्न २ जातियोंसे परिपूर्ण है। जातियोंका यह नैसर्गिक अधिकार है कि वे जीवित रहें। यदि उनके जीवनपर विपत्ति आनेकी आशंका हो तो वे प्रत्येक प्रकारका काम कर सकती हैं। आपत्तिके समय न्याय तथा अन्यायका ख्याल नहीं किया जाता। यूरोपीय राष्ट्रके लोगोंने अपने उपनिवेश बसानेके लिए सकड़ों पुरानी जातियोंका उच्छेद

कर दिया। इस उच्छेदसे बचनेके लिये यदि वे राज्य-क्रान्ति करतीं तो न्याययुक्त था। भारतीयोंको भी इस सिद्धान्तका ख्याल रखना चाहिये। जीवनरक्षणसे बढ़ कर और कोई पवित्र काम नहीं। जातीय जीवनकी रक्षामें किया गया प्रत्येक प्रकारका काम पवित्र तथा धर्म्मसंगत है। महाशय ब्लुन्ट्शलीके विचारमें जीवन-रक्षणके सदृश ही जातियोंको निम्नलिखित बातोंको भी रक्षा करनी चाहिये।

(क) भाषा—जाति तथा जनताकी मुख्य संपत्ति मातृ-भाषा है। किसी भी राष्ट्रको यह अधिकार नहीं है कि वह किसी अन्य जातिकी मातृ-भाषाको नष्ट करे या उसमें लिखी पुस्तकोंको प्रचलित होनेसे रोके। इंग्लैण्डका भारतीय भाषाओंकी उन्नतिमें ध्यान न देना भारतीयोंके साथ अन्याय करना है। कमसे कम हिन्दी तो भारतकी राष्ट्र-भाषा है। उसको राज्य-भाषाका स्थान अवश्यही मिलना चाहिये।

(ख) रीति-रिवाज—भाषाके सदृश ही अपने रीतिरिवाजोंका नैसर्गिक अधिकार है। जो रीति रिवाज़ न्याय तथा सदाचारके विरुद्ध हों उनको दूर करना ही चाहिये। इंग्लैण्डने भारतसे सतीकी रीतिको हटाया अच्छा ही किया।

(ग) राज्यनियम तथा सदाचार-नियम—अपने राज्यनियमों तथा सदाचार-नियमोंको कायम रखना प्रत्येक राष्ट्रका कर्तव्य है। यहां भी यह ख्यालमें रखना चाहिये कि जो राज्य-नियम या सदाचार-नियम हानिकर हों उनको दूर करना उचित है। यज्ञमें बकरोंको काटकर बलि देना राज्य-नियमोंके द्वारा रोकना चाहिये। इस विषयमें जो कुछ

कठिनाई है वह यही है कि यह पता नहीं चलता कि कौन राज्य-नियम या सदाचार-नियम बहुत ही हानिकर है और कौन सा नहीं। बहुत बार ऐसे मामलोंमें ग़लती भी हो जाती है।

(घ) सभ्यता—प्रत्येक राष्ट्रकी जनताको अपनी सभ्यताकी रक्षाका यत्न करना चाहिये। पराधीनताका सबसे बड़ा दोष यही है कि लोग अपनी सभ्यता खो देते हैं। अंग्रेज लोग परोक्ष रीतिसे भारतीयोंमें अपनी सभ्यता ठूंस रहे हैं। उनका यह काम बहुत ही अन्यायपूर्ण है। भारतीयोंको अंग्रेजोंकी भोग-विलासपूर्ण सभ्यतासे कुछ भी लाभ नहीं पहुंच सकता।

§ ११ *समाज*

फरांसीसी राजनीतिज्ञोंने समाज, जाति तथा राष्ट्रमें कोई भेद नहीं माना है। इससे विचारमें बड़ी गड़बड़ पड़ती है। जर्मनीके विचारकोंने शुरूसे ही राष्ट्र, जाति तथा समाजको पृथक् पृथक् मानकर विचार करना शुरू किया। उनके अनुसार मनुष्योंके साधारण सम्मिलन या संघका नाम समाज है। दृष्टान्त स्वरूप, आर्य समाज, ब्रह्मसमाज इत्यादि इत्यादि। एक राष्ट्रमें राजनीतिके तौरपर संगठित पुरुषोंका नाम 'जाति' है। जाति शब्दमें उसका राजनीतिक स्वरूप छिपा है परन्तु समाज शब्दमें यह बात नहीं। जाति अपने अपमान, सम्मान आदिका ध्यान रखती है, 'समाज' में यह बात कहां? समाज नियमनिर्माण, शासन तथा निर्णय आदिका कुछ भी काम नहीं कर सकता। 'जाति' यह सब कुछ करती है।

जाति तथा समाजका परस्पर भेद होते हुए भी आपस-में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। राष्ट्र या जाति भिन्न २ समाजों-के लिए अच्छे २ नियम बनाती है और उनकी रक्षा करती है। उनके स्वार्थोंको कई तरीकोंसे पूरा करनेका यत्न करती है। यह उचित भी है। क्योंकि समाज ही राष्ट्र तथा जातिको आर्थिक सहायता पहुंचाता है। समाजको नुकसान पहुंचते ही राष्ट्र तथा जातिको नुकसान पहुंचना स्वाभाविक है। स्वास्थ्यसंपन्न शिक्षित समाज राष्ट्र तथा जातिको पुष्ट करता है और बढ़नेमें बड़ा भारी सहारा देता है।

बहुत बार समाजका राष्ट्र तथा जातिसे घनिष्ट सम्बन्ध नहीं भी रहता। यह तभी होता है जब समाज कुछ एक अपने ऐसे स्वार्थोंको पूरा कराना चाहता है जो राष्ट्र तथा जातिको अभीष्ट नहीं होते। इससे विपरीत भी देखा गया है। राष्ट्र तथा जाति समाजसे बहुतसी ऐसी बातें कराने चाहते हैं जो वह नहीं कर सकता या जिनका करना वह पाप समझता है। प्रायः शासनपद्धति तथा शासनके समुचित न होनेसे समाजमें विप्लव तथा विक्षोभ हो जाता है। राष्ट्र तथा जाति जब उस विप्लवको दूर करना चाहती है तो समाजका कोप और भी अधिक बढ़ जाता है।

समाजका 'जनता' के साथ भी सम्बन्ध है। परन्तु उतना घनिष्ट नहीं जितना कि राष्ट्र तथा जातिके साथ। जनताकी भाषा तथा विचार-प्रणाली अपनी होती है। समाज तो जनताका ही एक अंग है। उसका अपना कुछ

भी नहीं होता है। जनता कई राष्ट्रोंमें विभक्त हो सकती है परन्तु समाज ऐसा नही कर सकता।

§१२ *संघ तथा श्रेणी ।*

जिस प्रकार संसार भिन्न २ जातियों तथा जनताओंमें विभक्त है उसी प्रकार प्रत्येक जनता भिन्न भिन्न दल, संघ या श्रेणी (tribes) के लोगोंमें विभक्त होती है। हो सकता है कि गोंड भील आदि आर्य जातिके ही भाग हों परन्तु आजकल वे भिन्न श्रेणीके समझे जाते हैं। उनकी भाषा तथा रहन-सहनने एक नया रूप धारण कर लिया है। वे लोग दूसरी श्रेणीके लोगोंको विदेशीयकी दृष्टिसे देखते हैं।

एक ही जनताके भिन्न भिन्न श्रेणीके लोगोंमें कुछ कुछ समानता होती है। भील गोंड, सन्थाल आदि जितना भारतीयोंसे मिलते हैं उतना यूरोपियन लोगोंसे नहीं। क्योंकि यद्यपि उनकी भी जाति या रहन-सहन भारतीयोंसे भिन्न है तो भी बहुत अंशोंमें यूरोपियनोंकी अपेक्षा वह भारतीयोंसे अधिक मिलता है। उनकी भाषामें जातिका कुछ न कुछ भाग अवश्य ही मिला हुआ है। संसारके सम्मुख भिन्न भिन्न जनताओंकी जो स्थिति है, वही स्थिति जाति तथा जनताके सम्मुख भिन्न भिन्न श्रेणीके लोगोंकी है। श्रेणियोंका होना न तो बुरा है और न अच्छा ही है। जनतासे पृथक् हो कर भिन्न भिन्न श्रेणियोंके लोगोंको अपनी शक्ति-वृद्धिका पूरा अवसर मिलता है। यह बुराईका रूप तभी धारण करता है जब यह राष्ट्रके संगठनमें बाधक हो जाता है। रोम भिन्न २ श्रेणीके लोगोंके पार्थक्यसे शक्ति-संपन्न

हुआ और यूनान इसीसे एक बड़े राष्ट्रका रूप धारण करनेमें असमर्थ हुआ ।

जमनीको उन्नति करनेमें सबसे बड़ी बाधा यही थी कि वहां भिन्न भिन्न श्रेणीके लोग विद्यमान थे । एक २ श्रेणीके लोगोंने अपनी छोटी २ रियासतें कायम करली थीं । बहुत ही मेहनतके बाद बिस्मार्कने इन रियासतोंको आपसमें जोड़कर राष्ट्रात्मक राज्यकी नींव रखी । जर्मनीके दुश्मन जमन साम्राज्यको छिन्न भिन्न करनेके लिये इनको प्रायः साधन बनाते रहे । यही बात आस्ट्रिया-हंग्रीको उन्नतिमें बाधक थी । पांच साल तक जर्मन मित्रदल फ्रान्ससे लड़ता रहा परन्तु आस्ट्रिया-हंग्रीकी एक रियासतके फूट जानेसे उसको बहुत ही अधिक चोट पहुंची ।

भारतवर्ष मरहठा, बंगाली, गुजराती, राजपूती, बुन्देली, कनाडी आदि अनेक श्रेणियोंके लोगोंसे परिपूर्ण है । इन सबकी अपनी अपनी भिन्न २ भाषाएं हैं । भारतको एक राष्ट्र बनानेमें जो बाधाएं आजकल पड़ रहीं है उनमें एक मुख्य कारण भिन्न २ श्रेणियोंके लोगोंका होना भी कहा जा सकता है । यह भी बहुत सम्भव है, कि एक राष्ट्रके रूपमें संगठित होनेपर भी भारतकी स्थिति सदा ही पेचीदी बनी रहे और भिन्न २ श्रेणियोंके लोगोंके होनेसे राष्ट्रकी एकताके भंग हो जानेके भयसे भारतीयोंका दिल धक् धक करता रहे ।

§१३. जाति ।

समाज तथा श्रेणीके सदृश ही भिन्न २ जनताएँ जातियोंमें विभक्त हैं । जातियोंका मुख्य केन्द्र भारतवर्ष है । मिश्र तथा ईरानमें भी इसका कुछ कुछ प्रभाव पड़ा है । यूरोप जात पांतके

झगड़ोंसे बचा रहा। परन्तु उसमें भिन्न २ श्रेणीके लोग-१ का झगड़ा बराबर बना रहा और इसी झगड़ेसे वह बहुत कुछ उन्नत भी हुआ। भारतमें हिन्दुओंका विश्वास है कि ब्राह्मण लोग ब्रह्माके मुहसे, क्षत्रिय बाहुसे, वैश्य जंघासे और शूद्र पैरोंसे उत्पन्न हुए हैं। जो जिस जातिमें उत्पन्न हुआ वह उस जातिको नहीं छोड़ सकता। इन जातियोंके सदृश ही भारतमें बहुतसी उपजातियां भी विद्यमान हैं। कुम्हार, तेली, चमार, जुलाहा, धोबो, लोहार, सुनार इन्हीं उपजातियोंके परिणाम हैं।

जातियों तथा उपजातियोंका वास्तविक उद्भव भिन्न २ कार्य्योंमें एक ही परिवारके लगातार लग जानेसे हुआ है। प्राचीन भारतीयोंका ख्याल जितना भेद-भावको स्थिर रखनेकी ओर गया उतना उसको मिटानेकी ओर नहीं गया। शुरू शुरूमें लोग चार ही पेशोंमें लगे हुए थे। जो लोग पढ़ाते लिखाते थे और संपत्ति बटोरनेका ख्याल छोड़कर राज्य-संचालन तथा राज्य-नियमोंको एकत्र करनेका काम करते थे वे ब्राह्मण कहलाते थे। राष्ट्रका धार्मिक काम भी यही लोग करते थे। जो लोग युद्धमें लड़ते थे वे क्षत्रिय, जो लोग व्यापार-व्यवसायका काम और खेती करते थे वे वैश्य, तथा जो लोग तीनों वर्णोंकी सेवा सुश्रूषाका काम ही करते थे वे शूद्र नामसे पुकारे जाते थे।

जातियोंकी स्थिर संख्या बन जानेसे एक व्यक्तिका दूसरी जातिमें जाना कठिन हो गया। क्षत्रिय ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी ब्राह्मण नहीं बन सकता था। समयके गुजरनेके साथ भिन्न भिन्न वर्णोंके लोगोंने अपना पुराना काम छोड़कर नया काम करना शुरू किया परन्तु उनकी जाति पूर्ववत् बनी रही। एक

ब्राह्मण क्षत्रिय या शूद्रके यहां रोटी पकानेका काम करते हुए भी अपना ब्राह्मणत्व नहीं खोता। यही हालत अन्य जातिके लोगोंकी भी है।

व्यापार-व्यवसायके बढ़ने और राज्य-प्रबन्ध तथा शासन-कार्य्यमें श्रमविभागके उत्पन्न हो जानेसे उपजातियोंकी सृष्टि हुई। उपजातियोंमें भी भिन्न भिन्न नगरों तथा ग्रामोंके आधार-पर भेद स्थापित हो गये। ब्राह्मणोंमें सारस्वत तथा कान्य-कुब्जके भेद और क्षत्रियोंमें पूर्वियों तथा पच्छिमियोंके भेद इसीके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

समाजकी स्थिरता तथा शान्तिको कायम रखनेमें जातियों तथा उपजातियोंने काफी काम किया। जबतक भारतीयोंमें आत्मसम्मान, वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक समानताके भाव जागृत नहीं हुए थे और कर्मवादके स्थानपर भाग्य-वाद प्रबल था, जाति तथा उपजाति शान्ति तथा स्थिरताकी बाधक न हुई। राष्ट्रीय एकता, भ्रातृभाव तथा जातीयताके भावोंको बढ़ाने और जनताके राजनीतिक जीवनको उन्नत करनेमें जातियों तथा उपजातियोंने भारतको बहुत ही अधिक नुकसान पहुंचाया। भाग्यवाद तथा निराशाके पचड़ेमें पड़कर भंगियोंने ब्राह्मण बननेका यत्न नहीं किया तथा ब्राह्मणोंने घर बैठे ही मुफ्तका धन प्राप्तकर देशके उद्धारके लिये विशेष यत्न न किया। यूरोपकी दशा भारतसे सर्वथा भिन्न थी। यूरोपमें व्यापार-व्यवसायके नये नये गिल्ड (दल) बने। इसके साथही साथ कुलीनों तथा पादरियोंकी संस्थाएं भी वहां पर विद्यमान थीं। साधारण लोगोंके पास ज्यों ही धन बढ़ा त्यों ही उन्होंने कुलीनों तथा पादरियोंकी शक्तिको चकना-चूर किया और लोकतन्त्र राज्यकी यूरोपमें स्थापना की।

धनके बहुत अधिक बढ़नेसे और उत्पत्तिके नवीन साधनोंके दोषपूर्ण होनेसे साराका सारा यूरोप आजकल धनियों तथा दरिद्रोंमें विभक्त हो गया है। कर्मवाद तथा पौरुषवादके आधारपर काम करते हुए वहांके दरिद्रोंने अपने आपको समितियोंमें संगठित किया है, और हड़ताल तथा निष्क्रिय प्रतिरोधको साधन बनाकर धनियोंकी शक्तिको चकनाचूर करनेके लिये यत्न करना शुरू किया है। इसी यत्नका उज्ज्वल फल रूसका साम्यवादी राज्य है।

भारतवर्ष पुराने अन्धविश्वासों तथा ब्राह्मणोंकी उपासनाके ही पीछे पड़कर बुतपरस्त तथा भाग्यवादी बना रहा। अंग्रेजोंका भारतपर राज्य होते ही भारतकी पुरानी स्थितिमें परिवर्तन शुरू हो गया। धीरे धीरे भारतवर्ष भी साम्यवाद तथा कर्मवादकी ओर झुकता जा रहा है। अंग्रेजोंका स्वार्थ तथा स्वेच्छाचारी शासन जनतामें राजनीतिक जीवनको उन्नत कर रहा है। कालिजोंकी पढ़ाई और आर्य्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि समाजोंका यह फल है कि ब्राह्मणों तथा जात-पांतका अनुचित महत्व भारतसे उठता जाता है।

§ १४ *जन-संख्याका महत्व* ।

प्राकृतिक परिस्थितिका मनुष्योंके आचार-व्यवहार तथा स्वभावपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

प्राकृतिक परिस्थिति-का मनुष्यके आचार व्यवहारपर प्रभाव

यही कारण है कि राष्ट्रका विचार करते समय मनुष्योंके साथ साथ प्राकृतिक परिस्थितिका भी विचार करना पड़ता है।

वंश तथा पैतृक संस्कार ।

वंश तथा पैतृक संस्कार भी मुख्य तत्व हैं। इन्हींके प्रभावसे एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे और एक जाति दूसरी जातिसे परस्पर नहीं मिलती। मनुष्योंमें प्रत्येक प्रकारकी भिन्नता होते हुए भी एकताकी ओर झुकाव होता है और इसी झुकावका परिणाम राष्ट्र है। राष्ट्रके निर्माणमें प्राकृतिक परिस्थिति तथा मानुषिक आचार-व्यवहारका एक सदृश भाग है। राष्ट्र प्रकृति तथा मनुष्यके संयोगका ही परिणाम है।

राष्ट्रकी शक्ति तथा जनसंख्याकी वृद्धि ।

जनसंख्या-वृद्धिके साथ राष्ट्रकी शक्तिकी वृद्धिका घनिष्ट सम्बन्ध है। मृत्युकी अपेक्षा उत्पत्तिके अधिक होनेपर ही जनसंख्या बढ़ती है। आजसे बहुत समय पहिले यूरोपमें मृत्यु संख्या अधिक थी। उस समय वहां जनसंख्या बहुत न बढ़ी। दुर्भिक्ष, रोग, युद्ध आदि विपत्तियोंमें यूरोपीय लोग बहुसंख्यामें मृत्युको प्राप्त होते थे। आजकल यूरोप समृद्ध है। अब दुर्भिक्ष तथा रोग आदि भी वहां बहुत कम देख पड़ते हैं। यही कारण है कि कुछ सदियोंसे वहां आबादी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ी है। इस आबादी बढ़नेका मुख्य कारण उत्पत्तिका बढ़ना नहीं है, अपितु रोगोंका कम होना ही है। यह प्रायः देखा गया है कि सभ्यता तथा समृद्धिकी वृद्धिके अनुपातमें मनुष्योंकी उत्पादक शक्ति नहीं बढती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि मृत्युको बढ़ाने वाले कारण सर्वथा कम हो जाते हैं।

सभ्यता तथा समृद्धिकी वृद्धिके साथ साथ यूरोपमें स्वच्छता तथा स्वास्थ्य बढ़ा। दुर्भिक्ष तथा रोग दूर किये गये। वृद्धों, बालकों, अनाथों तथा विधवाओंकी रक्षाका उपाय किया गया और बेकारोंको काम तथा भोजन दिया गया। यही कारण है कि यूरोपकी आबादी पूर्वापेक्षा बहुत ही अधिक बढ़ गयी।

सभ्यता तथा समृद्धि-का स्वच्छता तथा स्वास्थ्यके साथ सम्बन्ध।

राष्ट्रकी उन्नति-अवनतिमें जनसंख्याका बड़ा भारी भाग है। यदि प्राचीन कालमें जनसंख्या न बढ़ती तो संगठित राज्य तथा राष्ट्र न उत्पन्न होते। यही जनसंख्या-वृद्धि जब राष्ट्रकी आर्थिक शक्तिका अतिक्रमण कर देती है तो उपनिवेश-वृद्धि तथा विजय अपना रूप प्रकट करती हैं। आजकल तो राष्ट्रकी सैनिक तथा व्यावसायिक शक्तिका दारोमदार जनसंख्यापर ही है। जनसंख्या ही राष्ट्रका प्राण तथा जीवनाधार है।

जनसंख्याकी वृद्धि तथा राष्ट्रका विस्तार।

§५, १ *जनसंख्याका विभाग।*

जनसंख्या-वृद्धिके सदृश ही जनसंख्याका विभाग बहुत ही महत्वपूर्ण है। जनसंख्या विभागमें भी प्राकृतिक कारणोंका बड़ा भाग है। संसारमें अनेक भूभाग मनुष्योंसे खचाखच भरे हुए हैं। यह क्यों? यह इसलिये कि मनुष्योंको अपने जीवन-निर्वाहके लिये प्राकृतिक पदार्थोंका सहारा लेना पड़ता है। जहां प्राकृतिक

जनसंख्याका विभाग तथा उसमें प्राकृतिक कारणोंका भाग।

पदार्थ अधिक उत्पन्न होते हैं वहां मनुष्य भी अधिक संख्या-में रहते हैं। परन्तु जहां यह बात नहीं है, भूमि मरुप्राय वा ऊसर होनेसे अनुत्पादक है वहां जनसंख्याका कम होना या सर्वथा ही न होना स्वाभाविक है।

जनसंख्या-विभाग तथा मानसिक कारण।

जनसंख्या-विभागमें प्राकृतिक कारणोंके सदृश ही मानसिक कारणोंका भी मुख्य भाग है। शिकार-प्रधान जातियोंको जितना भूमि भाग जीवन निर्वाहके लिये चाहिये उसके सौवें हिस्से में ही कृषिप्रधान जातियां अपना काम चला लेती हैं। यदि दैवात् व्यापार तथा व्यवसायमें भी कोई कृषि-प्रधान जाति बहुत हो बढ़ जावे तब तो उसकी जनसंख्या जितनी बढ़े उतनी ही थोड़ी है। ऐसी ही जातियोंमें मृत्युकी अपेक्षा उत्पत्ति अधिक होती है और लोग सुख-समृद्धि तथा शान्तिमें जीवन व्यतीत करते हैं।

उपनिवेश।

एक देशको छोड़ करके अन्य देशोंमें लोगोंका बसना एक महत्वपूर्ण घटना है। नवीन परिस्थिति-को प्राप्त करके और विवाह द्वारा भिन्न भिन्न जातियोंके नरनारी आपसमें संगठित हो करके राष्ट्रकी उत्पत्ति तथा वृद्धिमें बड़ा भारी भाग लेते हैं। ऐसे ही स्थानोंमें राज्य तथा राज्यनियम भी अद्भुत रूप धारण करते हैं। नवीन भूमिके पुराने निवासी दास बनाये जाते हैं और जो दासतासे बच गये वे जंगलो, ऊसर तथा निर्जन भूमियोंमें भाग जाते हैं।

जनसंख्याका महत्व।

संसारके सभी देशोंमें यह घटना विद्यमान है कि कहीं-पर लोग अधिक संख्यामें रहते हैं और कहींपर बहुत कम संख्यामें। प्रकृति तथा मनुष्योंपर विजय प्राप्त करके किसी एक जातिका किसी एक देशमें घने तौरपर बसना सुगम हो जाता है। घनी आबादी सभ्यताका चिन्ह

है, क्योंकि घनी आबादीवाले देशोंमें ही राज्य तथा उच्च कोटिका संगठन उत्पन्न होता है। शासक तथा शासितका भेद ऐसे ही जनसमाजमें प्रगट होता है। व्यावसायिक तथा व्यापारिक जीवन व्यतीत करनेसे नयी नयी राजनीतिक तथा आर्थिक समस्यायें सामने आती हैं, जिनको हल कर लेनेसे जनताकी मानसिक शक्ति उन्नत हो जाती है। उपनिवेशोंकी वृद्धिसे देशकी सभ्यता तथा भाषा स्थान स्थानपर फैल जाती है। रोम-साम्राज्यके छिन्न भिन्न होनेपर यूरोपीय राष्ट्रोंका उदय हुआ और यूरोपीय राष्ट्रोंकी आबादी बढ़नेपर अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि दूरवर्ती महाद्वीप आबाद हुए। इन घटनाओंसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि जनसंख्या-विभाग तथा राष्ट्रकी उन्नतिका कितना घनिष्ट सम्बन्ध है।(१)

(१) १९१० तथा १९११ के बीचमें निम्नलिखित राष्ट्रोंमें प्रति वर्ग मील निम्नलिखित जनसंख्या थी—

राष्ट्र	प्रति वर्ग मील	राष्ट्र	प्रति वर्ग मील
बेल्जियम	६५२	आस्ट्रिया	२४७
इंग्लैण्ड	६१८	स्विट्जर्लैण्ड	२३४
नीदर्लैण्ड	४०९	फ्रान्स	१८९
जापान	३३६	स्पेन	१००
इटली	३१३	रूस	६८
जर्मनी	३१०	अमेरिका	३१
चीन	२६६		

(Introdnction to Political science by Gettell Ch. IV, p. 32).

§ ११. जाति।

सभी मनुष्य आपसमें बहुत कुछ मिलते हैं और बहुत कुछ भिन्न हैं। पारस्परिक भेदका मुख्य कारण भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी अन्तरीय तथा बाह्य विशेषतायें हैं। अन्तरीय विशेषतायें व्यक्तियोंके साथ ही उत्पन्न तथा नष्ट होती हैं।

मनुष्योंका पारस्परिक भेद तथा समिलन।

कभी कभी वे अपनी छाप राष्ट्रपर बना जाती हैं। बाह्य विशेषतायें प्राकृतिक परिस्थिति तथा जातीय परिस्थितिका परिणाम होती हैं। जातीय भेद वंश तथा प्रकृतिसे सम्बद्ध है। भिन्न भिन्न वंशों तथा भिन्न भिन्न माता पिताओंसे उत्पन्न सन्ततियां अपने पूर्वजोंके संस्कारों, स्वास्थ, रूप, रंग तथा गुणोंको अपने साथ ले आती हैं और एक ही जल-वायु, भूमि तथा भोजनमें पल करके उस सादृश्यको ग्रहण करती हैं जो उनको एक जातिके रूपमें परिवर्तित कर देता है। जातिके सदृश ही 'जात' का उद्भव है। एकही कार्य्योंमें तथा पेशेमें काम करने वाले लोगोंका एक खास प्रकारका स्वभाव आचार-व्यवहार तथा रहन-सहन हो जाता है। यदि यही घटना पीढ़ियों तक चलो जावे तो एक ही पेशेके लोग एक 'जात' का रूप धारण कर लेते हैं और लोहार सुनार, तेली, चमार आदि भिन्न भिन्न नामोंसे पुकारे जाते हैं।

अन्तरीय तथा बाह्य विशेषताओंका जातिकी उत्पत्तिमें भाग।

राष्ट्र निर्माणमें जातियोंकी स्थितिका निम्न लिखित भाग है।

(१) राजनीतिक सगठनमें सुगमता—एक ही जातिके लोगोंका स्वभाव, आचार, व्यवहार आपसमें बहुत अधिक मिलनेसे, राजनीतिक संगठन सुगम हो जाता है। राजनीतिक संगठनके साथ जातीयताका घनिष्ट सम्बन्ध है। जातीयताके भावोंसे प्रेरित होकरके लोग कठिनसे कठिन कामोंको करनेके लिये तैयार हो जाते हैं और समय पड़ने पर जातिकी रक्षामें अपने प्राणों तकको स्वाहा कर देते हैं। प्राचीन कालमे जातीयताका भाव राष्ट्र-निर्माणका मुख्य-आधार था। इसी जातीय भावको सुरक्षित रखनेके लिये शिखा सूत्रकी कल्पना की गयी और वर्णसंकरता दोष ठहरायी गयी।

(२) राष्ट्रका उद्भव—एक ही रक्त तथा वंशके लोगोंसे परिवारका विकास हुआ। परिवार ही महान् रूप प्राप्त करके 'जात' तथा जातिके रूपमें प्रकट हुआ। राष्ट्र भी इसी महान् रूप-का परिणाम है। सारांश यह है कि परि-वारसे 'जात,' जातसे जाति, और जातिसे राष्ट्र उत्पन्न हुआ है। यही कारण है कि राष्ट्रकी उन्नति-अवनतिमें जातीयताका बड़ा भाग है। आर्य्य जातिने जो राजनीतिक तथा सामाजिक संगठन उत्पन्न किये, अफ्री-काके काले आदमियोंके लिये वे स्वप्नके सदृश हैं।

§१७. जातीयता।

प्रारम्भिक अवस्थामें राष्ट्रको जन-संख्या भिन्न भिन्न जातों तथा जातियोंमें ही विभक्त रहती है। जातीयताकी उत्पत्ति वंश तथा रक्तकी एकता संगठनका मुख्य आधार बनकर राष्ट्रीय जीवन व्यतीत करना सुगम कर देती है। निस्सन्देह आजकल इन तत्वोंकी प्रधानता बहुत कुछ लुप्त हो चुकी है। अन्तर्जातीय विवाह तथा उपनिवेश-निवास रक्त तथा वंशके महत्वको दिनपर दिन घटा रहा है। मनुष्योंका पारस्परिक भेद तथा सम्बन्ध आजकल किन्ही दूसरे ही तत्वोंपर आश्रित हैं। परन्तु इसका यह तात्पय नहीं है कि रक्त तथा वंशकी एकताने अपने पुराने संकुचित स्थानको छोड़ करके सारीकी सारी राष्ट्रीय जन-संख्यापर आतंक जमाया है और जातीयता रूपी एक नयी घटनाको उत्पन्न कर दिया है। एक स्वार्थ, एक स्वभाव तथा एक ही रीतिरिवाजको आधार बना करके जातियोंने संसारमें अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित किया है। समाज-संगठन या मनुष्योंके जातीय स्वरूपमें निम्न लिखित तीन शक्तियां मुख्य हैं।

(१) धर्म—प्राचीन काल तथा मध्यकालमें समान धार्मिक विश्वास संगठनका एक मुख्य तत्व था। विधर्मी शत्रु माने जाते थे। कभी कभी एक ही देश तथा एक ही खूनके लोगोंको राष्ट्रीय धर्ममें विश्वास न करनेके कारण कष्ट झेलना पड़ता था। यहूदियोंका अस्तित्व,

मुसल्मानी साम्राज्यकी वृद्धि तथा सोलहवीं सदीके यूरोपीय युद्ध—ये सबके सब राष्ट्रीय जीवनमें धार्मिक शक्तिके महत्वको सूचित करते हैं। सहिष्णुता तथा विचार स्वतन्त्रता ने धर्म्मकी उग्र प्रतिमाको अब चूर चूर कर दिया है। यही कारण है कि धर्म्म-भेद होते हुए भी जर्मन लोग एक राष्ट्रमें सुगमतासे ही संगठित हो गये।

(२) भाषा—जातीय एकतामें भाषाका भाग भी रहता है। समान स्वार्थ तथा हितसे प्रेरित लोग समान भाषा ग्रहण करते हैं और भिन्न भाषा-भाषियोंको बर्बर तथा म्लेच्छ समझने लगते हैं। साहित्य तथा समाचार पत्रोंकी वृद्धिके साथ साथ सामाजिक संगठन दृढ़ होता है और जातीयता एक स्थिर आधार प्राप्त कर लेती है।

(३) समान उद्देश्य—समान भय तथा समान उद्देश्य भी जातीयताके भावोंको दृढ़ करता है। आस्ट्रिया हंग्रीमें भिन्न भिन्न भाषा बोलने वाले भिन्न भिन्न जातिके लोग रहते थे। फिर भी उनमें जातीयताका भाव उत्पन्न हो गया। भारतवर्षमें लोगोंका धर्म्म भिन्न भिन्न है। भाषा भी सब प्रान्तोंकी समान नहीं है। इसपर भी दिनपर दिन जातीयताके भाव लोगोंमें उत्पन्न हो रहे हैं। यह क्यों? क्योंकि लोग

उत्तम शासनको चाहते हैं। स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन लोगोंको पसन्द नहीं है। उसी शासनको सुधारनेके लिए लोग संपूर्ण भेद भावोंको भुलाकर एक जातिमें परिवर्तित हो रहे हैं।

§ १८. *राष्ट्र-निर्माणमें जातीयताका भाग ।*

राजनीति तथा राष्ट्रीय निर्माणमें जातीयताका बड़ा भारी भाग है। जातीयताका ही यह महत्व है कि यूनान जैसी छोटी रियासत ईरानियोंसे और जर्मन्स रोमनसे लड़ाईमें प्रवृत्त हुए। जातीयताके भेदने ही रोमन लोगोंको—यूनानी तथा लैटिन—दो सम्राटोंके अधिकारमें रोमन साम्राज्यको विभक्त करनेकेलिये प्रेरित किया। फ्रान्स तथा जर्मनीका फटाव भी बहुत कुछ इसीसे जुड़ा हुआ है। आजकल तो जातीयताने अपना उग्ररूप धारण किया है।

जातीयताका महत्व।

एक सदीकी बात है कि नैपोलियनने फरांसीसी लोक-सभा तथा फ्रेञ्च जातिकी सहायता प्राप्तकर यूरोपको अपने पैरों तले रौंदना चाहा। यूरोपमें जातीयताके भाव जागृत हो चुके थे। परिणाम इसका यह हुआ कि वह अपने उद्देश्यमें सफल न हो सका।

नैपोलियनके स्वेच्छाचारसे यूरोपमें जातीयताकी उत्पत्ति।

अंग्रेज लोग राष्ट्रनिर्माणमें जातीयताको आधार रखना पसन्द नहीं करते। इसका मुख्य कारण यही है कि ग्रेटब्रिटनमें कई जातियोंका निवास है। जातीयताके भावोंको बहुत दूर तक बढ़ानेसे भारतके हाथसे निकल जानेका भी उनको खतरा है। यह होते हुए भी संवत् १८६७ (सन् १८४०) से यूरोपके अन्दर राष्ट्रनिर्मा-

इगलैण्डका राष्ट्र निर्माणमें जातीयताको मुख्य न रखना।

णमे जातियोंका भाग विशेष तौरपर बढ़ा है। जर्मनी तथा आस्ट्रियाहंग्रीकी राष्ट्रात्मक शासनपद्धति इसीका परिणाम है।

राष्ट्र निर्माणमें जनताके अधिकार।

आजकल यह सिद्धान्त दिनपर दिन उग्ररूप धारण कर रहा है कि "प्रत्येक जनताका यह जन्म सिद्ध अधिकार है कि वह अपना राष्ट्र आप बनावे। जिस प्रकार मनुष्य समाज भिन्न भिन्न जनताओंमे विभक्त है, उसी प्रकार उसको भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमे विभक्त होना चाहिये, संसारमे जितनी जनतायें हैं उतने ही राष्ट्र होने चाहिये। क्योंकि राष्ट्रका आधार जनता तथा जाति ही है"। परन्तु यह विचार ठीक नही है। इस विचारका अन्तिम परिणाम यह कि एक ही राष्ट्र धीरे धीरे अपने आप कई जनताओंमे विभक्त होकर कई राष्ट्रोंको जन्म दे देगा। शुरू शुरूमे इंग्लैण्ड तथा उत्तरीय अमरीका एक ही जनताके अंग थे। राजनीतिक जीवनके जागृत और उपरिलिखित सिद्धान्तके प्रचलित होते ही उत्तरीय अमरीकाने अपने आपको इंग्लैण्डसे पृथक् कर लिया, क्योंकि एक ही जनता कई बार दृष्टिभेदसे भिन्न भिन्न जनताओंमे विभक्त दिखायी देने लगती है। इस दृष्टि-भेदके कारण भिन्न भिन्न राष्ट्रोमें विभक्त हो जाना कभी भी उचित नही कहा जा सकता है। इंग्लैण्डने उत्तरीय अमरीकाके लोगोंके साथ वही व्यवहार किया जो वह पराधीन जातियोंके साथ करता आया है। इस हालतमें उत्तरीय अमरीकाका एक पृथक् राष्ट्र बन जाना स्वाभाविक ही था। उपरिलिखित सिद्धान्तका ख्याल न रखनेसे ही जर्मनी भिन्न भिन्न जनताओं तथा जातियोंके लोगोंको संगठित कर एक बड़े राष्ट्रका रूप धारण कर सका।

भिन्न भिन्न जनता तथा जातीयताके लोगोंके, एक ही देशमें पास पास बसनेसे निम्नलिखित घटनायें उत्पन्न होती हैं।

(१) समिलन—उच्च सभ्यता तथा उच्च राजनीतिक जीवनमें पले लोग एक ही देशमें पहुंचकर अपने भेद भावोंको भुलाकर तथा मिटाकर आपसमे मिलना शुरू कर देते हैं। यूरोपीय जातियोंका अमरीका पहुंचकर अमरीकन बनना इसीका चलता उदाहरण है।

(२) पार्थक्य—यह भी देखनेमें आया है कि बहुत बार भिन्न भिन्न जातियां अपनी भाषा तथा अपनी जातीयताको नहीं छोड़तीं। आस्ट्रिया हंग्रीकी पुरानी राष्ट्रात्मक शासन-'पद्धति इसी भेद-भावका परिणाम थी। आस्ट्रियामे लम्बार्ड तथा वैनीशियनका मग्यार तथा स्लेब्ज और ज़ेचों तथा जमनोंका विरोध इसी पार्थक्यका उदाहरण है।

(३) सगठन—भिन्न भिन्न जातियां जब किसी एक राष्ट्रमे आपसमे न मिलकर पृथक् पृथक् रहना ही पसन्द करें उस समय राज्योंको निष्पक्ष भावसे एक ही राष्ट्र तथा एक ही राज्यमे उनको समान रूपेण संगठित करना पड़ता है। सबको समान अधिकार दिये जाते हैं और अन्तरीय जीवनमें सबको पूर्ण तौरपर स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

राज्यकी किसी एक जातिके साथ तथा हितका ख्याल छोड़कर सबका समान रूपसे ध्यान रखना स्विट्जर्लैंड आस्ट्रिया पड़ता है । स्विट्जर्लैंडने इस विकट समस्याको बड़ी सफलतासे हल किया है । जर्मनी फ्रान्स तथा इटलीको भिन्न भिन्न जातियां भी राष्ट्रात्मक राज्यमें इसी प्रकार संगठित की गयी हैं । आस्ट्रियामें सैनिक शक्तिके बलपर भिन्न भिन्न राष्ट्र राष्ट्रात्मक राज्यमें जोड़े गये । परन्तु यह तभी तक चलता है जब तक कि राज्य शक्तिशाली होता है । इस पञ्चवर्षीय विकट युद्धमें आस्ट्रियाको एक रियासतका शत्रुओंसे शुभ मन्त्रणा कर आस्ट्रियासे कट जाना इस बातका प्रमाण है कि संगठनका यह तरीका कितना कमजोर है ।

प्रबल जातिमें निर्बल जातिका लीन हो जाना । यदि भिन्न भिन्न जातियां आपसमें मिल जायं तो राष्ट्र खतरेसे बच जाता है । ऐसी हालतमें प्रायः यह देखा गया है कि प्रबल जातियां दुर्बल जातियोंको अपने अन्दर ले लेती हैं । आयरिश, जर्मन्स तथा फरांसीसी, अमरीका पहुंचकर दो ही पीढ़ियोंके बाद ऐंग्लोसैक्सनमें मिल जाते हैं ।

उपरिलिखित विचारसे स्पष्ट है कि जातीयता (नेशनेलटी) तथा राष्ट्र (स्टेट) का घनिष्ठ सम्बन्ध है । जनता तथा जातीयतामें भेद । परन्तु इससे यह अनुमान करना कि जनता (पीपिल) तथा जातीयतामें भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, ठीक नहीं है । क्योंकि—

(१) राजनीतिक योग्यता—प्रत्येक जनता राष्ट्रके बनानेमें योग्य नहीं होती । राष्ट्र-निर्माणके लिये

राजनीतिक योग्यता होनी चाहिये। नियन्त्रणमें रहना, दुर्बलोंको न सताना, शक्तिशाली किसी व्यक्ति या सभाके आधिपत्यमें जीवन व्यतीत करना आदि अनेकों गुण हैं जिनसे जनताको स्वतन्त्र जातिका रूप प्राप्त होता है और वह राष्ट्र निर्माणके योग्य बन जाती है यही कारण है कि जनतामें जाती। यताके भाव तभी उत्पन्न होते हैं जब कि उसमें राजनीतिक योग्यता हो।

(२) मतभेद—मतभेद उन्नति तथा अवनतिका मुख्य कारण है। एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर और राष्ट्र तथा राज्यके साथ प्रेम रखकर जनताओंका मत भेद प्रगट करना उन्नतिका कारण है। इसीसे भिन्न भिन्न प्रकारकी शासन-पद्धतियोंका विकास होता है। परन्तु यदि मतभेद इस हद्द तक बढ़ जाय कि वह भिन्न भिन्न जातियोको छोटी छोटी रियासतोंमें रहनेके लिये प्रेरित करे तो इसका फल वही होता है जो यूनान में हुआ। यूनानी राष्ट्र मतभेदके कारण बड़े राष्ट्रका रूप न धारण कर सके। इससे एक बार तो उनको मकदूनियाका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा और इसके बाद रोमके राज्यमें उनको जीवन व्यतीत करना पड़ा। इसी मतभेदका फल जर्मनी

तथा इटलीको भी बचना पड़ा यदि वहांके लोगोंमें मतभेद बहुत प्रबल रूप न धारण कर लेता तो वहां विदेशियोंका राज्य न होता।

(३) राजनीतिक जीवनका अनुभव करना—यदि किसी देशकी जनता अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको समझने लगे तो उसका यह नैसर्गिक अधिकार है कि वह स्वतन्त्र राष्ट्र बन जाय। उसको इससे रोकना अत्याचार तथा अन्याय है। प्रिन्स बिस्मार्कने ठीक कहा था कि "यदि कोई जनता जीना चाहती हो'। तो उसे यह शक्ति होनी चाहिये कि वह स्वतन्त्र तौरपर अपने अंगोंको हिला डुला सके।" प्रसन्नताकी बात है कि भारत वर्षमें जनता दिनपर दिन अपने राजनीतिक अधिकारोंको समझती जाती है। अंग्रेजोंको यह उचित नहीं है कि वे भारतीयोंको पराधीनताकी जञ्जीरोंमें जकड़ रखें, क्योंकि प्रत्येक जनताका यह नैसर्गिक अधिकार है कि वह अपने अनुकूल शासनपद्धति तथा राज्यमें रहे।

(४) जातीय राष्ट्र—जातीय राष्ट्रों (नैशनल स्टेट) के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उनमें सारीकी सारी जनता समा जाय। प्रत्येक राष्ट्रमें जनताका इतना बड़ा भाग अवश्य होना चाहिये जो राष्ट्रपर अपनी छाप बनाये रखे। फ्रान्स जर्मन तथा इटलीके राष्ट्र

जातीयराष्ट्र हैं यद्यपि उनमें भिन्न भिन्न जातियोंके लोग भी सम्मिलित हैं। फ्रान्स जातीयराष्ट्र इसीलिये है कि वहां फरांसीसी लोग अधिक संख्यामें हैं। यही बात जर्मनी तथा इटलीके साथ समझनी चाहिये।

(५) आदर्श राष्ट्र—जात तथा जातीयताके भाव मनुष्य समाजकी अपरिपूर्णताके ही चिन्ह हैं। साधारणतः सार्वभौम बन्धु भावको ही प्रधानता मिलनी चाहिये। सब मनुष्य भाई भाई हैं, जात तथा जातिके भाव कल्पित हैं, गोरे कालेका भेद अस्वाभाविक है, इत्यादि बातोंको आधार बनाकर ही परिपूर्ण संगठन तथा आदर्श राष्ट्रको नींव रखी जा सकती है। मनुष्य समाजका अन्तिम उद्देश्य आदर्श राष्ट्रको प्राप्त करना है। राज्य-नियमोंका आधार मनुष्यका स्वभाव होना चाहिये। दुःखकी बात है कि यूरोपीय राष्ट्रोंका इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं है। अफ्रीकाके उपनिवेशोंका भारतीयों तथा एशियाटिक लोगोंको अपने उपनिवेशोंमें न बसने देना और उनको राज्याधिकार न देना भयंकर अन्याय है। जापानियोंको अमरीका तथा आस्ट्रेलियामें किसी प्रकारका भी अधिकार प्राप्त नहीं है।

आज कल जातीय राष्ट्रोंका ही प्रचार है। उनको चाहिये

कि वे विदेशियोंके साथ अच्छा बर्ताव करें। स्वदेशियोंके सदृश ही उनको भी राजनीतिक अधिकार दें। इसमें उनको कुछ भी कठिनता न हो यदि वे आदर्श राष्ट्रको बनाना अपना उद्देश्य रखें।

(६) एकता—आदर्श राष्ट्र बनाना यदि जातीय राष्ट्रोंका उद्देश्य हो तो उनमें एकता बहुत ही अधिक बढ़ सकती है। भिन्न भिन्न जातियोंके लोग प्रायः प्रत्येक राष्ट्रमें मौजूद हैं। जातीयताके भावोंको चरम सीमा तक पहुंचानेका यही फल है कि उस राष्ट्रमें एकता तथा संगठन अपना पैर नहीं रखते। आस्ट्रिया अभी तक पूर्ण तौरपर संगठित नहीं हुआ। भिन्न भिन्न जातिके लोग जातीयताके मदमें चूर होकर आपसमें मिलनेका यत्न नहीं करते हैं और इस प्रकार राष्ट्रकी दुर्बलताको बढ़ानेमें बड़ा भारी भाग ले रहे हैं। परन्तु यदि जातीयताके भावोंको गौण रूप दिया जाय तो यह बात न हो। इंग्लैण्डने इसीके सहारे अपने आपको संगठित किया। शुरू शुरूमें इंग्लैण्ड वाले सैक्सन्स लोगोंसे और फिर नार्मन्स लोगोंसे मिल गये। इसके बाद सब लोगोंको उन्होंने अपने अन्दर मिलाया और अब वे आयरिश लोगोंको मिलाना चाहते हैं।

(७) समानता—जातीयताके अंशको गौण करनेपर ही एक राष्ट्र अपने नागरिकों या राष्ट्रोंको समान

अधिकार दे सकता है। अमरीकाका राष्ट्रात्मक राज्य पूर्ण तौरपर संगठित है, क्योंकि वहां भेद-भाव काम नहीं करता। प्रत्येक राष्ट्रको समान अधिकार है। जातीयताके भावोंको बहुत बढ़ानेसे आस्ट्रिया हंग्रीकीसी दशा होती है। भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके भिन्न भिन्न अधिकार होते हैं और इस प्रकार झगड़ा सदा बना रहता है।

(८) स्वतन्त्रता—राष्ट्रकी उन्नतिका तत्व इसीमें है कि वह नागरिकोंकी स्वतन्त्रताका मान करे। इस जमानेमें वही राष्ट्र फलते फूलते हैं जो कि जनता की इच्छाओंका ख्याल रखते हैं। जिस राज्य-प्रणालीमें जनता की इच्छाओंकी कुछ भी कदर नहीं वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। कभी कभी प्रबल राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रोंको अधीन कर मनमाने ढंग पर राज्य करते हैं। दुर्बल राष्ट्रकी जनतामें ज्यों ही जागृति हुई त्यों ही प्रबल राष्ट्रका तख्ता पलट जाता है। राष्ट्रोंको चिरकाल तक पराधीन रखना सुगम काम नहीं है।

प्रत्येक राष्ट्रका अपना अपना स्वभाव तथा अपना अपना आचार-व्यवहार है। एक ही शासन पद्धति प्रत्येक राष्ट्रके लिये अनुकूल नहीं हो सकती। बहुत सी यूरोपियन रियासतोंने अमरीकाकी शासन-पद्धतिका अनुकरण किया परन्तु किसीको भी शासन-पद्धति अमरीकाके सदृश नहीं

रही । भिन्न भिन्न राज्योंमें अमरीकन शासन-पद्धति पहुंच कर भिन्न भिन्न रूपकी हो गयी ।

उन्नतिशील राष्ट्र समयके अनुकूल अपनी शासन पद्धतियोंमें परिवर्तन करते रहते हैं । इन परिवर्तनोंको करते हुए भी वे "अपनापन" नहीं छोड़ते । रोम समय समय पर भिन्न भिन्न प्रकारकी शासन-पद्धतियोंमे गुजरा परन्तु सभी पर उसने रोमनपनेको छाप कायम रखा।

सारांश यह है कि स्वाभाविक राष्ट्र वही हैं जो समय के अनुकूल अपनी शासन-पद्धतियोंमें परिवर्तन करते रहते हैं तथा दूसरोंकी उन्नति तथा आविष्कारोंसे लाभ उठानेका यत्न करते रहते हैं । जो समयके परिवर्तनोंसे डरते हैं और नयी बातोंको ग्रहण करनेसे हिचकते हैं वे अवनत होकर नष्ट हो जाते है ।

§१६. राष्ट्र तथा परिवार ।

परिवार तथा राष्ट्रमें अधिक समता है । राष्ट्र परिवार का ही विराट् रूप समझा जाता है । सिसरोने लिखा है "परिवारका बड़ा रूप ही राष्ट्र है । राष्ट्रका मुख्य शासक पिता है, और जनता उसके बाल बच्चे हैं" । इस ढगके विचार किसी हद्दतक ही ठीक है । राष्ट्र तथा परिवारमे जहा अधिक समता है वहां अधिक भेद भी है । महाशय ब्लुण्ट्श्लीने इस भेदको इस प्रकार दिखाया है—

क विवाह—परिवारके लोग विवाह या वंशके द्वारा एक दूसरेके साथ जुड़े होते हैं । राष्ट्रके सभ्योंका पारस्परिक सम्बन्ध ऐसी किसी भी बातपर निर्भर नहीं रहता । भारतमें

तो राष्ट्रके सभ्य एक दूसरेके साथ विवाह-सम्बन्ध भी नहीं कर सकते। एक ही जातिमें व्यक्तियोंका वैवाहिक सम्बन्ध भारतमें प्रचलित है। परिवारके अधिकारोंका भी राष्ट्रके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।'

ख भूमि तथा जातीय संगठन—राष्ट्रका जातियोंके संगठन तथा भूमिके साथ विशेष तौरपर सम्बन्ध है। परिवारको इनसे कुछ भी मतलब नहीं। भूमि तथा मकानकी मिलकियतके विना भी परिवार फलते फूलते हैं। राष्ट्रका व्यक्तियोंसे सीधा सम्बन्ध है, न कि परिवारसे।

ग राजनीतिक तथा पारिवारिक सम्बन्ध—परिवार तथा राष्ट्रके संगठनमें आधारभूत भेद है। पिता परिवारका रक्षक समझा जाता है। वह परिवारको पालता है परन्तु राज्यमें यह बात नहीं है। यहां व्यक्ति ही राज्यको धनकी सहायता देते हैं और इस प्रकार राज्यको पालते हैं। व्यक्तियोंका राज्यके साथ राजनीतिक सम्बन्ध है। पारिवारिक तथा राजनीतिक सम्बन्धमें जो भेद है वह किसीसे भी छिपा नहीं है।

आर्य्य जातिमें राष्ट्रका आरम्भ परिवार तथा जातियोंसे ही हुआ। न्यायाधीशों, राजाओं तथा शासकोंको भिन्न भिन्न परिवारों तथा जातियोंसे सहायता लेनी पड़ती थी। यही बात किसी जमानेमें रोम तथा ग्रीसमें मौजूद थी। परिवार तथा जातिमें केवल इतना ही भेद है कि परिवार एक वंशसे और जाति बहुत वंशोंसे मिलकर बनती है। कुल-पति तथा जातिके नायक वंशागतके साथ साथ कभी कभी निर्वाचित भी होते थे। कुल तथा परिवारके विचारको

सामने रखते हुए चोनी तथा मलाया लोगोंने अपने राष्ट्रको उन्नत किया। मलाया देशमें अबतक लोग राजाको पिता तथा जनताको उसके बालबच्चे मानते हैं आर्य्य जातिने अपनी स्वतन्त्रताको यदि कहींपर पूरी तौरपर न्यौछावर किया तो वह मलाया देश ही है।

राष्ट्रकी उन्नतिमें कुटुम्बोंका बड़ा भाग है। राष्ट्रका कर्तव्य है कि वह कुटुम्बोंका उच्छेद न होने दे। प्राचीन कालसे अबतक भारतमें प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्तव्य समझा जाता है कि वह विवाह अवश्य ही करे। एक स्त्रीके साथ एक पुरुषका विवाह होना ही राष्ट्रके लिये हितकर है। बहु विवाह—पुरुषका हो या स्त्रीका-अनुचित है। इससे स्त्रियोंकी स्थिति बिगड़ जाती है। उचित यही है कि स्त्रियोंकी स्थिति पुरुषोंके सदृश ही हो।

रोमके प्राचीन नियमोंके अनुसार स्त्रियां पतिके आधिपत्यमें नहीं थीं। लड़कीके सदृश ही स्त्रीके साथ पतिको बर्ताव करना पड़ता था। इसके दोषोंको देखकर रोमन लोगोंने इसमें परिवर्तन किया। परन्तु इससे व्यभिचार तथा भोग-विलास बहुत ही अधिक बढ़ गया। रोमके अधःपतनमें भी इसने बड़ा भारी भाग लिया। जर्मनीमें स्त्रियोंको अपनी संपत्तिके रखनेका हक़ है और उनको पतिका विशेष तौरपर मान करना पड़ता था। स्त्रीका स्वामी होते हुए भी पुरुष उसपर अत्याचार नहीं करता। जर्मन परिवार सुखी तथा शान्त होते हैं, उनमें कलह तथा अशान्ति बहुत कम देखी गयी है।

रोमन लोग विवाहको एक प्रकारका साझा समझते थे। यूरोपकी कई रियासतोंमें अभी तक यही बात समझी जाती है। उचित यही है कि विवाह एक धार्मिक कृत्य समझा जाय। विवाहके समय विशेष प्रसन्नता होनी, उत्सवका किया जाना, यज्ञ द्वारा पति पत्नीका सम्बन्ध स्थिर करना, किसी हद तक लाभकर हो है, क्योंकि इससे विवाहमें साझेका विचार दूर हो जाता है। यूरोपमें यह बात नहीं है। वहां विवाह दो प्रकारका हैं।

(क) एक तो वह विवाह है जिसमें पति-पत्नीके सम्बन्धको राष्ट्रके मुख्य शासक स्थिर करते हैं। इस कारवाईके बिना विवाह वैध नहीं कहा जा सकता।

(ख) दूसरा विवाह वह है जिसमें पादरी लोग पति-पत्नी-के सम्बन्धको स्थिर करते हैं।

विवाह न कर भोग-विलासमें जीवन व्यतीत करना यूरोपके अन्दर उग्र रूप धारण कर चुका है। इससे राष्ट्रके नाशकी संभावना हो जाती है। सम्राट् अगस्टसने राज्य नियमोंके सहारे रोमका आबादी बढ़ानेका यत्न किया। रोममें अमीर लोग इस लिये विवाह नहीं करते थे कि बुढ़ापेके दिनोंमें उनको कष्ट न उठाना पड़े। संपत्ति-वितरणमें वे स्वतन्त्र थे, मरने पर जिसको चाहें वे संपत्ति दे सकते थे। इसका परिणाम यह था कि बहुतसे लोभी लोग रोमन अमीरोंके चारों ओर घिरे रहते थे और उनकी खूब सेवा सुश्रूषा करते थे। उनको यह आशा रहती थी कि बुड्ढेकी अतुल संपत्ति उन्हींके हाथोंमें आ जावेगी। इसी

सेवा सुश्रूषाके लोभमें रोमन लोग शादी नहीं करते थे और लम्पटतामें ही सारा जीवन व्यतीत करते थे। इसी भयंकर दृश्यको देखकर अगस्टसने यह बात कही थी कि 'रोमके अधःपतनका मुख्य कारण रोमके लोग ही हैं। यदि ये लोग इसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत करेंगे तो रोम यूनानियों या बर्बर लोगोंका शिकार हो जायगा"। फ्रान्समें यही घटना कुछ ही समय पूर्व उत्पन्न हो गयी थी। वहांकी आबादी दिनपर दिन घट रही थी। फरांसीसी राज्यने इस आबादीको बढ़ानेके लिए बहुत ही अधिक यत्न किया।

सारांश यह है कि विवाहका राष्ट्रके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। किस स्त्रीके साथ कौन पुरुष विवाह करे इसका निर्णय विवाह करने वालेके ही हाथोंमें होना चाहिये। पितामाताका लड़की चुनना तथा अपने लड़केसे बिना पूछे ही उसकी शादी कर देना भारतवर्षमें विशेष तौरपर प्रचलित है। इस मामलेमें भी अब परिवर्तन शुरू हो गया है और लड़कोंको भी खास खास क़ौमोंमें कुछ स्वतन्त्रता मिल गयी है।

विवाहके लिये उत्तेजित करनेके स्थानपर आजकल बहुतसे राष्ट्रोंको उलटा काम करना पड़ता है। यूरोपमें धनकी भयंकर असमानता है। लाखों मनुष्य वहां ऐसे हैं जिनके पास न कुछ पूंजी है और न कुछ भूमि ही है। ऐसे लोगोंका विवाह कर पारिवारिक जीवन व्यतीत करना राष्ट्रके लिये हानिकर है। यही कारण है कि माल्थूस आदि

सज्जनोंने दरिद्रोंको आत्मसंयमका उपदेश दिया है और बिना संपत्तिके विवाह करना कष्टका मूल प्रगट किया है।

परन्तु यूरोपकी दशा विचित्र है। संपत्तिके न होनेसे लोगोंने विवाह करना छोड़ दिया है। कायिक प्रवृत्तिको वे लोग अनुचित तरीकोंसे शान्त करते हैं। इन्हीं तरीकोंमेंसे एक तरीकाका यह परिणाम है कि प्रत्येक यूरोपीय राष्ट्रमें कामज संततियां दिनपर दिन बढ़ती जाती हैं। लाचार होकर राष्ट्रको कामज बच्चोंका पालन-पोषण स्वयं ही करना पड़ता है।

स्त्री-पुरुषके पारस्परिक सम्बन्धोंमें हस्तक्षेप करना राज्यका कर्त्तव्य नहीं है। परन्तु कभी कभी यहां भी ऐसी घटनाएं उत्पन्न होती हैं कि राज्यको अपना मौन व्रत छोड़ना पड़ जाता है। यदि एक पुरुष अपनी स्त्रीको डण्डोंसे पीटे तथा उस बिचारीपर अन्य भयंकर अत्याचार करे तो राज्यके सिवाय उस बेचारीका और कौन सहारा हो सकता है।

महाशय प्लेटोका विचार था कि राष्ट्रके आदर्श शासकोंको न विवाह करना चाहिये और न पारिवारिक जीवन व्यतीत करना चाहिये। कायिक प्रवृत्ति शान्त करनेके लिये उनको स्त्रियां मिल जानी चाहियें। यह इसलिये कि वे निश्चिन्त होकर निःस्वार्थ भावसे राष्ट्रकी सेवा तथा हित-चिन्ता कर सकें। इस विचारमें जो कुछ दोष है वह यही है कि इससे पारिवारिक जीवनपर भयंकर धक्का लगेगा। स्वतन्त्र प्रेम (Free love) के द्वारा भी काम नहीं चलाया जा सकता क्योंकि मनुष्य अभी तक पूर्ववत् ही

कायिक प्रवृत्तियोंके वशीभूत हैं। स्वतन्त्रता पाकर वे जो बुराई न करें वही थोड़ी है।

आजकल यूरोपीय राष्ट्रोंमें तलाक देनेकी प्रथा प्रचलित है। पुरुष स्त्रीको और स्त्री पुरुषको छोड़ सकती है। तलाक सम्बन्धी राज्यनियम ही इस मामलेमें कुछ कुछ बाधक हैं। न्यायालयके द्वारा स्वीकृत होने पर ही तलाक दिया जाता है, और पुरुष-स्त्री मनमाने तौरपर एक दूसरेको नहीं छोड़ सकते हैं।

§ २० *स्त्रियोंकी स्थिति ।*

संसारकी सभी जातियोंमें स्त्रियोंका वंश तथा गोत्र वही समझा जाता था जो कि उनके पतिका होता था। कभी कभी इसका विपरीत भी देखनेमें आया है। परन्तु इसके दृष्टान्त इतने थोड़े हैं कि इस पर ध्यान न देना ही उचित प्रतीत होता है। पुरुषोंका स्त्रियोंपर प्रभुत्व, स्त्रियोंका बालबच्चोंके पालन-पोषणमें ही मग्न होना और बाहरके मामलोंसे ध्यान हटाकर घरेलू मामलोंको ही अपना कार्य्य-क्षेत्र समझना पुराने ज़मानेकी सभ्यताका एक मुख्य भाग था। इसमें अनेक गुणोंके होने हुए भी यह दोष था कि स्त्रियां राष्ट्रकी उन्नतिमें विशेष तौरपर भाग लेनेमें असमर्थ थीं।

यूरोपमें स्त्रियोंकी स्थितिके अन्दर संवत् १८४६ (सन् १७८९) की फरांसीसी राज्यक्रान्तिने विशेष परिवर्त्तन करना शुरू किया। लोगोंको समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृभावके भावोंसे रंगे हुए देखकर एक स्त्रीने संवत् १८४६ (सन् १७८९)

में राजाके पास स्त्रियोंको राज्याधिकार देनेके विषयमें एक प्रार्थनापत्र भेजा। फरांसीसी जातीय सभाने इस प्रार्थनापत्रको घृणाकी दृष्टिसे देखा और उस पर किसी प्रकारका भी ध्यान न दिया। इंग्लैण्डमें महाशय मिलने और फ्रान्समें एडुआर्ड लैबोलीने स्त्रियोंकी राजनीतिक स्थितिको ऊंचा करनेका यत्न किया।

स्त्रियोंको राजनीतिक अधिकार देनेके विषयमें महाशय मिल निम्न लिखित चार युक्तियां पेश करते हैं—

(क) पुरुषोंके सदृश ही स्त्रियोंकोभी उत्तम शासन चाहिये। उत्तम शासनका आधार यदि प्रतिनिधि-निर्वाचन है तो स्त्रियोंको भी क्यों न यह अधिकार दिया जाय। महाशय ब्लुन्ट्शली इस युक्तिको हेत्वाभास समझते हैं। उनका ख्याल है कि निर्वाचनका सम्बन्ध योग्यतासे है न कि उत्तम शासनसे। बालकोंको निर्वाचनका अधिकार इसीलिये नहीं दिया गया है चूंकि वे इस कामके योग्य नहीं है। उत्तम शासन तो उनको भी चाहिये। यदि उत्तम शासन ही निर्वाचनका आधार हो तो क्यों न बालकोंको भी निर्वाचनका अधिकार मिले। महाशय ब्लुन्ट्श्लीके कथनमें बहुत कुछ सचाई है। प्रश्न तो यह है कि वह कौनसी बात है जो स्त्रियोंको निर्वाचनके अयोग्य सिद्ध करती है। बालकके सदृश ही बालिकाओंको चाहे निर्वाचनकाअधिकार न दो, परन्तु पुरुषोंके सदृश ही स्त्रियोंको निर्वाचनका अधिकार क्यों न मिले? यदि पुरुष लोग प्रतिनिधितन्त्र राज्यको उत्तम शासनके लिये आवश्यक समझते हैं और

इसीलिये शासकोंका निर्वाचन स्वयं करते हैं तो स्त्रियोंको भी यह अधिकार क्यों न मिले। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिस प्रकार एक पहियेसे रथ ठीक ढंग पर नहीं चलता उसी प्रकार स्वतन्त्रता तथा समानताका रथ तबतक ठीक ढग पर नहीं चल सकता जबतक कि पुरुषोंके सदृश ही स्त्रियां भी इसको न अपनायें। प्रतिनिधितन्त्र शासन-प्रणाली, स्वतंत्रता तथा समानताका भाव बच्चोंको दूधके साथ ही पिलाया जाना चाहिये। जिस चीज़को स्त्रियां अपना लेती हैं वह राष्ट्रका स्वभाव बन जाती है। इस हालतमें स्त्रियोंको निर्वाचनका अधिकार मिलना राष्ट्रके लिये हितकरके सिवाय अहितकर नहीं हो सकता।

(ख) पुरुषोंके सदृश ही स्त्रियोंको अपनी संपत्तिके प्रबन्ध करनेका अधिकार है। राज्यकर तथा लगान पुरुषोंके सदृश ही स्त्रियोंसे भी सरकार लेती है। यदि हमारा यह सिद्धान्त हो कि प्रतिनिधि-निर्वाचन तथा राज्यकर देना (No taxation without representation) घनिष्ठ तौर पर परस्पर जुड़े हुए हों तो क्यों न स्त्रियोंको भी प्रतिनिधि-निर्वाचनका अधिकार मिले। यदि सरकार उनसे राज्यकर तथा लगान न ले और प्रतिनिधि-निर्वाचनका भी अधिकार न दे तो किसी हद तक यह घटना किसी एक सिद्धान्त पर आश्रित कही जा सकती है, परन्तु राज्यकर तथा लगान लेते हुए स्त्रियोंको प्रतिनिधि-निर्वाचनका अधिकार न देना अन्याययुक्त है।

(ग) संसारकी बहुत सी जातियोंमें पुरुषके सदृश ही

स्त्री भी राज्य पर बैठती है । एलिजाबेथ, ऐन, मेरी, तथा विक्टोरियाके दृष्टान्त इतिहासप्रसिद्ध हैं । रोम तथा ग्रीसके लोग स्त्रियोंको राज्यपर बैठानेके विरुद्ध थे । हैलिगाबेलसने अपनी माताको रोमन सीनेटमें बैठाया । रोमन लोगोंने यह पसन्द नहीं किया । यही कारण है कि उसकी मृत्युपर उन्होंने स्त्रियोंका सीनेटमें आना एक राज्य-नियमके द्वारा रोक दिया । यह होते हुए भी आजकल संसारके लगभग सभी सभ्य राष्ट्र स्त्रियोंको राज्य सिंहासनपर बैठाते हैं । इस हालतमें स्त्रियोंको प्रतिनिधि-निर्वाचनका अधिकार न मिलना आश्चयप्रद है ?

कई लोगोंका विचार है कि एकतन्त्र राज्यपद्धतिमें राजाका राज्यपर बैठना उसकी शासनकी योग्यताको नहीं सूचित करता है । वह राज्यपर इसीलिये बैठता है कि राज्य उसकी संपत्ति है । यदि संपत्तिकी मालकिन स्त्री हो सकती है तो दायादके नियमोंके अनुसार स्त्रीका राज्यपर बैठना आवश्यक ही है । प्रतिनिधि तन्त्र शासन-पद्धतिमें प्रधान पदपर स्त्रीका निर्वाचन या स्त्रियोंको निर्वाचनका अधिकार देना उपरिलिखित युक्तिके अनुसार कभी भी पुष्ट नहीं किया जा सकता है । परन्तु इसको यदि हम दूसरे ढंगपर पेश करें तो स्त्रियोंका प्रतिनिधि-निर्वाचन सम्बन्धी विवाद सुगमतासे सरल किया जा सकता है । प्रत्येक ऐतिहासिक यह अच्छी तरहसे जानता है कि ऐलिजाबेथ तथा विक्टोरियाने जिस उत्तम विधिपर शासन किया, बहुतसे राजा वैसा शासन न

कर सके। स्त्रियोंमें राजनीतिक योग्यता है, यह इसीसे सिद्ध है। इस हालतमें क्यों न पुरुषोंके सदृश ही स्त्रियोंको भी निर्वाचनका अधिकार मिले ?

समाजकी दशा हर समय बदलती रहती है। एक ढंगके स्वभाव वाले शासकोंकी उसको जरूरत नहीं है। उसको उसकी दशाके अनुकूल ही शासक मिलना चाहिये। यदि पुरुषोंमें वीरता, साहस तथा धैर्य्य अधिक है तो स्त्रियोंमें कोमलता, प्रीति, तथा शान्ति अधिक है। युद्धके समयमें राष्ट्रका प्रधान पुरुष हो और शान्तिके समयमें स्त्री हो तो राष्ट्रकी कला बहुत उत्तम विधि पर चल सकती है। सारांश यह है कि निर्वाचनका क्षेत्र जितना विस्तृत हो उतना ही अच्छा है। यदि पुरुषोंमें समाजकी दशाके अनुकूल शासक नहीं मिलता हो तो स्त्रियोंमेंसे ही क्यों न चुनाव किया जाय ? राष्ट्रको उत्तम शासक चाहिये। चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, इससे राष्ट्रको कुछ भी मतलब नहीं होना चाहिये। यही कारण है कि स्त्रियोंको निर्वाचनका अधिकार अवश्य ही मिलना चाहिये।

(घ) स्त्रियोंका जीवन पारिवारिक जीवन है। स्त्री तथा कन्याका पिताके अनुकूल वोट देना स्वाभाविक ही है। इस दशामें भिन्न २ परिवार एक एक निर्वाचक मण्डलका रूप धारण करेगा। यह बहुत ही अच्छी घटना है, क्योंकि शुरूमें राष्ट्रका उदय परिवारसे ही हुआ था और विकसित था। फूले फले राष्ट्रके अन्दर परिवारकी मुख्यताका बढ़ना उन्नति चक्र के अनुसार उचित ही है। जो शुरूमें था, यदि

वही चरमावस्थामें उत्पन्न हो तो इससे बढ़ कर अच्छा और क्या हो सकता है।

(ङ) आज कल यूरोपीय राष्ट्रोंमें स्त्रियां अप्रत्यक्ष तौर पर राजनीतिमें भाग लेती हैं। पुरुषों पर स्त्रियोंका कितना अधिक प्रभाव होता है यह किसीसे भी छिपा नहीं है। राजनीतिज्ञोंका अनुभव है कि अप्रत्यक्ष हाथकी अपेक्षा प्रत्यक्ष हाथका किसी कामें होना अच्छा है। स्त्रियां परदेमेंसे राष्ट्रकी कलको घुमाया करें इससे बढकर हानिकर और क्या बात हो सकती है। अच्छा तो यही है कि स्त्रियोंको निर्वाचनका अधिकार दे दिया जाय और वे अपना उत्तरदातृत्व समझते हुए खुले तौर पर राष्ट्रीय कार्य्योंमें भाग लें।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्त्रियोंको राज्यकार्य्य तथा निर्वाचनका अधिकार देना राष्ट्रको भयंकर नुक्सान न पहुंचा कर कुछ न कुछ लाभ ही पहुचावेगा। परन्तु एक बात है जिसकी न भूलना चाहिये। स्त्रियोंको कुछ अधिकार देकर राष्ट्र कुछ खोवेगा भी। परिवर्त्तनमें कुछ नष्ट होता है और कुछ उत्पन्न भी होता है। परिवारका सुख तथा आनन्द राजनीतिक विवादोंके पहुंचनेसे कुछ न कुछ अवश्य ही किरकिरा हो जायगा। स्त्रियोंकी कोमलता तथा सौन्दर्य्य राजनीतिक अधिकारोंके पीछे कुछ न कुछ अवश्यही मुरझा जायगा। हो सकता है कि किसी राष्ट्रकी स्थिति तथा स्वभाव ऐसा विचित्र हो कि स्त्रियोंको निर्वाचनका अधिकार देने पर लाभकी अपेक्षा उसको नुक्सान अधिक उठाना पड़े। स्त्रियोंके कारण राष्ट्र भयंकर विपत्तियोंमें पड़ चुके

हैं यह किसीसे भी छिपा नहीं है। स्त्रियोंके अपमान पर लोगोंका खून उबल पड़ता है। सीताका अपहरण, द्रौपदीका व.रहरण, और राजपूत ललनाओं पर मुसलमानोंकी कामिक दृष्टि सैकड़ों खूनी युद्धोंको भारतमें जन्म दे चुकी है। राजन.तिक विवादोंमें मान तथा अपमान प्रति दिन होता रहता है। इसमें पड़ कर स्त्रियां अपनी पुरानी इज़्ज़तको खो देंगी और पुरुषोंमें पारस्परिक वैमनस्य बढ़ावेगी। यदि कोई पुरुष राजनीतिक झगड़ोंमें पड़ कर किसी स्त्रीका अपमान करे, उस दशामें उसके पतिको या तो उसका अपमान चुप चाप सहन करना पड़ेगा या क्रोधमें आकर वह राष्ट्रके हिताहितको छोड़नेके लिये बाधित होगा।

§ २१. *कुलीन ।*

यूरोपमें जातोंके स्थानपर कुलीन लोग ही मुख्य हैं। कुलीनोंका जातोंसे भेद है। जात स्थिरताको पसन्द करती हैं और परिवर्तनसे डरती हैं। परन्तु कुलीनोंमें यह बात नहीं हैं। ऐतिहासिक परिवर्तनोंके साथ ही साथ उनकी स्थिति तथा उनके राज्याधिकार भी बदलते हैं।

शुरू शुरूमें यूरोपीय कुलीन वर्ण जातोंसे मिलते जुलते थे। परन्तु पूरी शक्ति प्राप्त करते ही वे जातोंसे भिन्न हो गये। ग्रेट ब्रिटेनमें ड्रूयिड लोग किसी ज़मानेमें संपूर्ण धार्मिक कृत्योंको करते थे। शिक्षण तथा राज्य-नियम सम्बन्धी कामोंका एकाधिकार उन्हीं लोगोंके हाथमें था। भारतीय ब्राह्मणोंसे उनकी तुलना की जा सकती है। उसी प्रकार शासनका काम भिन्न भिन्न कुलोनोंके

पास था जो भारतके क्षत्रियोंसे बहुत कुछ मिलते जुलते थे। कृषकों तथा अर्द्धदासोंकी संस्था भी वहां भारतके सदृश ही विद्यमान थी।

भारतने जातोंके भेदको बनाये रखा और अभी तक इसको ईश्वरीय सृष्टिका परिणाम समझता है। यूरोपने इस भेदको क्रमशः घटाया और समानता, बन्धुभाव तथा स्वतन्त्रताको अपने सामाजिक संगठनका आधार बनाया। उसने जन्मके स्थानपर कार्य्यको मुख्यता दी। यही कारण है कि मध्यकालमें यूरोपके अन्दर प्रत्येक मनुष्य मेहनतसे कुलीन बन सकता था। वहां भी मध्यकाल तक सारा समाज चार वर्गके लोगोंमें बंटा रहा जिनके नाम निम्न लिखित हैं।

(१) पादरी
(२) कुलीन तथा ताल्लुकेदार लोग
(३) नागरिक
(४) कृषक

मध्यकालके अन्तमें उपरिलिखित वर्ग एक दूसरेमें विलीन हो गये। आजकल यूरोपमें असमानता तथा भेद-भावका आधार संपत्ति है न कि जन्म। सम्पत्ति सम्बन्धी भेदभावको मिटानेके लिये यूरोपमें जो प्रबल यत्न हो रहा है, यदि वह यत्न सफल हो गया तो वहां नया जीवन आ जायेगा। दुःखकी बात है कि भारतवर्ष अभी तक ज्योंका त्यों अज्ञानान्धकारमें लीन है। जन्मसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बननेके विचारोंने हिन्दू समाजके आत्माको इतना छली

कर दिया है कि अभीतक समानता, बन्धुभाव तथा स्वतन्त्रताके सिद्धान्तोंके महत्वको वे न समझ सके। समुद्र-यात्राको रोककर हिन्दुओंने अपनी उन्नतिको कोसों दूर फेंक दिया है। संसारके भिन्न भिन्न उन्नत जनसमाजको देखनेका यदि हिन्दुओंको मौका होता तो उनके पुराने विचार कभीके दूर हो चुके होते। अंग्रेजी राज्यके आनेका भारतवर्षपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी शिक्षाने पुराने विचारोंपर पानी फेरनेका अच्छा काम किया है। भय जो कुछ है वह यही है कि अंग्रेजोंकी पराधीनतामें कहीं यह अपनी अच्छी अच्छी बातोंको भी न खो दे।

चौथा परिच्छेद

राष्ट्रके समुत्थानमें प्राकृतिक परिस्थितिका भाग।

§ २२. *जलवायु।*

मनुष्य प्रत्येक प्रकारकी भूमिमें रह सकता है। भयंकरसे भयंकर जलवायुमें (वह अपने रहन सहनको बदल कर) निवास करना शुरू कर देता है। गर्मी सर्दी तथा दिन रातका मनुष्यके जीवन पर काफी प्रभाव पड़ता है। जनताकी आदत, रहन सहनका ढंग तथा आचार-व्यवहार भिन्न जलवायुमें भिन्न रूप प्राप्त कर लेते हैं। पूर्वी प्रदेशोंमें पहुंचते ही रोमन लोग अपनी वीरता खो बैठे, जर्मन लोग अफ्रीकामें जाते ही निशःक्त हो गये और अंग्रेज भारतवर्षमें रहते ही भोग-विलास-प्रिय तथा आलसी बन गये।

शुरू शुरूमें सभ्यताकी उत्पत्ति उन्हीं देशोंमें हुई जो कि न अति गर्म थे और न अति ठण्डे। बहुत ठण्डे देशोंमें असभ्य लोगोंका सारा समय भोजनाच्छादनकी सामग्री जुटानेमें ही खर्च हो गया। यही कारण है कि वहां सभ्यता न बढ़ सकी। वृष्टि तथा उत्पादक भूमिसे युक्त गर्म देशोंमें भोजनाच्छादनकी अधिकतासे सभ्यता बढ़ी। गर्मीके कारण लोगोंमें प्रमाद तथा आलस्य बढ़ा इससे वे सभ्यताको एक हद् तक ही बढ़ा सके।

समशीतोष्ण देशोंमें सबसे पहिले सभ्यता बढ़ी। इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि संसारके सभी राष्ट्रोंकी

राजधानियां लगभग ८ से १६ शतांश गर्मीके बीचमें हैं । (१) लगभग शब्द इसलिये कहा कि कुछ एक यूरोपीय राष्ट्रोंकी राजधानियां अति शीत देशोंमें हैं । (२)

विद्या, विचार, विज्ञान आदिकी उन्नतिसे जलवायुका प्रभाव किसी हद्द तक दूर किया गया है । बिजलीके पंखों, बरफ तथा खसखसकी टट्टियोंसे सख्तसे सख्त गर्मीमें भी शीतप्रधान देशका मनुष्य गुजारा कर सकता है । मुसल्मान तथा हिन्दुओंके धर्मशास्त्रोंमें शराब पीना रोका गया है । यह क्यों ? यह इसीलिये कि गर्म देशोंके लोगोंको यह बहुत ही अधिक नुकसान पहुंचाती है । ठण्ढे देशके लोगोंके लिये यह इतनी हानिकर नहीं है । सर्द देशोंमें देरतक मेहनतका काम किया जा सकता है । गर्म-

---

१ दृष्टान्तके तौरपर निम्नलिखित राजधानियोंकी गर्मीकी मध्यमा ली जाती है । रोम १५°.४—माद्रिद १४° २—पैरिस १०°.८—लण्डन ९°.८—वीना १० ५—कान्स्टैन्टिनोपल १३° ७—बर्लिन ९°.१—ह्म्बर्ग ८°.९—कोपन हेगन ८° २—जूरिच ८° ८—हेग १०° ५—ड्रेस्डन ८°.३—म्यूनिच ९° १—बोस्टन ९° ६—वाशिंगटन १३° ५—फिलेडै-ल्फिया ११° ९—रिचमन्ड १३° ८—पैकिन ११° ३—नैपल्स १६° ४—लिस्बन १६° ४ मैक्सिको १६° ६—ब्यूनस आयरस १ ° ९—पालर्मो १८° २—सिडनी १८° १—नागारस्की १८°.३—कैन्टन २१°.६—केरो २२°.४—रायोडि जैनिरो २३°.—कलकत्ता २५° ८ सिंगापुर २६°.८—

२ दृष्टान्तके तौरपर—पेट्रोग्रेड ३°.१—क्रिस्चियाना ५°.३—स्टाक हाल्म ५°.६

पीछे जो कुछ आविष्कृत हुआ है वह सभी श्री मार्शलके अनुसन्धानका फल है।

श्री मार्शलका द्वितीय खनन कार्य्य।

प्रथमबारके खनन-कार्य्यके फलसे उत्साहित हो फिर सन् १६०८ ईसवी (संवत् १६६५) में डाक्टर कोनोको साथ लेकर श्रीमार्शल इस कार्य्यमें लगे। इस वर्ष भी उत्तरीय अंशमें ही कार्य्य आरम्भ हुआ। धामेक•स्तूपके उत्तरमें कितनेही स्तूपों आदिका आविष्कार करके मार्शलने इन्हें गुप्त कालीन (पंचमसे अष्टम शताब्दी तकका) बतलाया। जगतसिंह स्तूपके चारों ओर खोदवाकर उन्होंने स्तूपके पुनः सात बार संस्कार होनेके चिन्ह पाये। इस बारके खनन कार्य्यमें बहुतसी हिन्दू बौद्धमूर्त्तियाँ और२३ शिला लिपियां भी आविष्कृत हुईं। इन्हें छोड़ कच्ची एवं पक्की मिट्टीकी मुहरें (Seal), मिट्टीकी बनी माला, द्वारोंके टुकड़े इत्यादि भी प्रचुर परिमाणमें मिले। सुदीर्घ १२ फुट ऊंची महादेवकी दश भुजावाली मूर्ति, १ म शताब्दी विक्रमीयसे कुछ पहिलेका मिट्टीका सिर, (१४) "क्षान्तिवादि जातक" चित्रित पत्थरका खंड, विश्वपालकी लिपि और कुमरदेवीकी लिपि आदि विशेष रूपसे उल्लेख योग्य हैं। इनका वर्णन समुचित रूपसे अगले अध्यायमें किया जायगा।

पृष्ठ ८० का नोट—(१३) श्रीयुत राखालदास वन्द्योपाध्याय लिखित "बौद्ध वाराणसी" प्रबन्ध सा० प० पत्रिका १३१३ साल, १९३ पृष्ठ

(१४) Annual Report 1907-08, figure 8.

श्री मार्शल साहबके खनन कार्य्यके पीछे छः वर्षतक सारनाथमें खुदाईका काम बन्द रहा। सारनाथके खनन-कार्यनेही सबको चमत्कृतकर दिया था। इसलिये सारनाथके सदृश विख्यात ऐतिहासिक स्थानके खनन-कार्य्यका पुरातत्व-विभाग द्वारा इतने समयतक स्थगित रक्खा जाना न्यायसङ्गत नहीं कहा जा सकता। यदि साधारण लोग यह न जाने कि खुदाई कहां करानी चाहिये तो कोई आश्चर्य्यकी बात नहीं है। सर रत्न ताताने जो पाटलिपुत्रके खनन-कार्य्यमें बहुतसा द्रव्य लगा दिया इसके लिये हम उनको दोषी नहीं ठहरा सकते, पर यह सोचनेकी बात है कि पहिली खुदाइयोंका फल देखकर भी प्रत्नतत्व-विभागके अधिकारियोंने उनको आशानुरूप फलका लोभ कैसे दिखलाया। खैर, सारनाथकी खुदाईको जारी रखनेकी बात उनको उन दिनों भूल गयी थी। संवत् १६७२ में पुरातत्व-विभागके श्री हारग्रीवने जो थोड़े समयके लिए खनन-कार्य्य चलाया था उससे तीन अति मूल्यवान् मूर्तियां प्राप्त हुई। इन तीनों मूर्तियोंके पाद-पीठोंपर द्वितीय कुमारगुप्तके राज्यकालनकके विषयोंका वर्णन करती हुई दानमूलक लिपियां खुदी हुई हैं।

श्रीहारग्रीवका अनुसन्धान।

—～～—

पञ्चम अध्याय।

सारनाथसे प्राप्त शिल्प-चिन्होंका महत्त्व

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विन्सेण्ट स्मिथने सारनाथसे निकली वस्तुओंको देखकर अन्तमें अपने विख्यात ग्रन्थमें इस सिद्धान्तको स्थिर किया है कि केवल सारनाथके शिल्पोंहीसे अशोकसे लेकर मुसलमानोंके अधिकार तकके भारतीय शिल्पके इतिहासका स्पष्ट वर्णन हो सकता है। (१) प्राचीन भारतमें जितने प्रकारकी शिल्पकलाओंका प्रचार हुआ था उन सबका नमूना यहां मिल सकता है। "भारतीय चित्रकला-पद्धति" के नव-सेवकगण यदि अपनी उग्र कल्पनाका परित्यागकर कुछ दिनोंके लिए इस स्थानकी शिल्प-रीतिसे शिक्षा लें, तो प्राचीन शिल्पादर्शके सम्बन्धमें भ्रान्त धारणाओंके लिए उन्हें हास्यास्पद बननेकी सम्भावना न रह जाय। आजकल यह अवश्य कहा जाता है कि कल्पनाक्षेत्रसे भारतीय चित्रकलाका आदर्श प्राप्त नहीं हो सकता, फिर भी आत्मनिर्भरशील नये चित्रकार इस बातको बिलकुल व्यर्थ समझेंगे।

(१) "*** the history of Indian sculpture from Asoka to the Muhammadan conquest might be illustrated with fair completeness from the finds at Sarnath alone" V. A, Smith "A history of fine Art in India and Ceylon" p 118

सारनाथकी ऐतिहासिक सामग्री शिल्पके अतिरिक्त मूर्तितत्व (Iconography) के लिहाज़से भी अधिक मूल्यवान् है। किस युगमें किस मूर्तिका आदर था, कौन सम्प्रदाय किस मूर्तिकी आराधना करते थे, किस सम्प्रदायमें परिवर्त्तन किया गया था, इत्यादि नाना ज्ञातव्य बातें हम सारनाथकी मूर्ति प्रभृति भास्कर्य्य निदर्शनसे ही जान सकते हैं। बौद्ध, हिन्दू, जैन मूर्तियोंकी अपूर्व्व सङ्गति अनेक तथ्योंका उद्घाटन कर देतीं हैं। मूर्तियों और शिल्पोंद्वारा निर्णय करनेमें दक्ष महानुभाव उचित अवसरपर बहुसमयव्यापी परीक्षाद्वारा इन विषयोंकी मीमांसा करेंगे। सारनाथके भास्कर्य्य-संग्रहसे ही भारतीय पुराणतत्व (mythology) की भी बहुतेरी बातें प्रकाशित हुई हैं। संग्रहीत विविध प्रस्तर खंडोंपर बौद्ध-पुराणान्तर्गत जातकोंकी घटनावलियां भी अंकित हैं। (२) शिल्पतत्व, मूर्त्ति-तत्व पुराणतत्वको छोड़कर ऐतिहासिक और पुरातत्वमें भी सारनाथका भास्कर्य्य संग्रह यथेष्ठ मूल्यवान् है। यहांकी अनेक मूर्तियोंकी गढ़नसे मूर्त्तिकी लिपिका समय स्थिर किया गया है, अनेक मूर्त्तियोंका पत्थर देखकर भिन्न भिन्न स्थानोंके शिल्पियोंके भावोंका विनिमय भी जाना गया है, किसी किसी स्तूपोंकी शिल्पपद्धतिसे मालूम हुआ है कि सिंहलद्वीपके शिल्पियोंके साथ भी सारनाथके शिल्पियोंका सम्बन्ध था। सुतरां, यह सारनाथका म्युजियम ऐतिहासिकों या पुरातत्वज्ञोंके लिए दर्शनीय शिक्षागार है। जिस प्रकार प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) में

(२) क्षान्तिवाद जातक।

अभ्यास किये बिना कोई मनुष्य वैज्ञानिक नहीं बन सकता, ठीक उसी भांति म्युज़ियममें शिक्षा प्राप्त किये बिना कोई ऐतिहासिक या प्रत्नतत्वविद् नहीं हो सकता। यह बड़े दुःखका विषय है कि इस देशके लोग अभीतक इस ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं। यूरोपमें म्युज़ियम देखे बिना एवं देश-भ्रमण किये बिना शिक्षा समाप्त नहीं हो सकती। हम अनेक विषयोंमें तो यूरोपका अनुकरण करते हैं किन्तु इस विषयमें हम बिलकुल पिछड़ गये हैं। तथापि मालूम होता है कि देशकी हवा कुछ फिरी है। जातीय चेष्टासे कहीं कहीं म्युज़ियम स्थापित करना आरम्भ हो गया है। यदि सारनाथके ऐतिहासिक संग्रहका निम्नलिखित सामान्य विवरण पढ़कर किसीके हृदयमें म्युज़ियमसे शिक्षा प्राप्त करनेकी आकांक्षा जागृत हो तो मेरा यह परिश्रम सफल होगा। अब मैं इस स्थानसे आविष्कृत द्रव्यादि तथा म्युज़ियमके संग्रहका यथासाध्य कालक्रमानुसार विभागकर स्थूल रूपसे वर्णन करूंगा।

मौर्य्यकालीन शिल्प-के नमूने।

सारनाथमें अबतक जो कुछ आविष्कृत हुआ है उसमें सबसे प्राचीन एवं सर्व्वोत्कृष्ट शिल्प निदर्शन महाराज धर्म्माशोकका सिंहयुक्त प्रस्तरस्तम्भ है। इसके पूर्व्व भारतके नाना स्थानोंपर अशोकके नव प्रस्तरस्तम्भ आविष्कृत हो चुके थे। उनकी भी बनावट और शिल्प-चातुर्यकी प्रशंसा देशी तथा विदेशी शिल्प-समालोचकोंने सैकड़ों मुंहसे की है। (३)

(३) The detached monolithic pillars erected by Asoka * * bear testimony to the perfection attained by the early stone-cutters of India in the exercise of their craft" V A Smith in the Imp Gazetteer of India Vol II p 109.

किन्तु इस स्तम्भके आविष्कृत होनेके पीछे सब लोगोंने एक वाक्यसे स्वीकार किया है कि इसकी अपेक्षा सुन्दर पाषाण स्तम्भ और नहीं हैं। स्तम्भके सिरपर चार सिंह-मूर्त्तियां वतमान हैं प्राचीन कालमें इन सिंहोंके नेत्र मणिमय थे। इस समय वे मणियुक्त तो नहीं हैं पर उनके मणियुक्त होनेके अनेक चिन्ह वतमान हैं। इन सिंहोंकी खोदाई इतनी स्वाभाविक और सुन्दर हुई है कि इसे देखने ही अनवरत प्रशंसा करनेकी इच्छा होती है। इन सिंहोंके नीचे चार चक्र हैं, दो दो चक्रोंके मध्यमें हाथी, सांड, अश्व तथा सिंह अंकित हैं। ये चक्र सम्भवतः बौद्ध चक्रके चिन्ह स्वरूप बनाये गये हैं। हाथी, सांड़, अश्व और सिंह यथाक्रमसे इन्द्र, शिव, सूय तथा दुर्गाके वाहन हैं। अतएव ये बौद्धधर्मकी अधीनताको सूचित करते हैं। परलोकगत डाक्टर ब्लकका यही मत है। इस स्थानपर यह देखने योग्य बात है कि उक्त चारों पशु चलते हुए ही अंकित किये गये हैं। चक्र भी चलते हुए दिखाये गये हैं। इसका तात्पर्य्य कदाचित् यह था कि जबतक ये जन्तु संसारमें चलते रहेंगे तबतक बौद्ध धर्म भी पृथिवीपर चलता रहेगा। हम डाक्टर ब्लकके इस मतको भी पण्डित दयाराम साहनीकी भांति अस्वीकार नहीं कर सकते। इस चित्रके नीचेका अंश घंटेके सदृश अंकित है। यह समग्र स्तम्भ-शीर्ष म्युजियमके प्रधान गृहमें स्थापित है और स्तम्भका निम्नांश अपने प्राचीन स्थानपर वतमान है। इसके अन्य भग्नांश भी इसके निकट ही रखे हैं। यह स्तम्भ-शीर्ष तथा स्तम्भ बलुये पत्थरके बने हैं। इसके ऊपर एक

वज्रलेप है। (४) वज्रलेपकी चमक, उसका चिकनापन तथा उसका रंग देखकर अचम्भित होना पड़ता है और इतने प्राचीन युगमें भौतिक विज्ञान जिस उन्नतिको प्राप्त हुआ था इसका विचारकर आश्चर्यका पारावार नहीं रहता। (५) इस स्तम्भके मस्तकपर बौद्ध वाराणसीका प्रधान चिन्ह एक वृहत् धर्मचक्र था, इसका भग्नांश अब भी म्युज़ियममें सयत्न रक्षित है।

इस स्तम्भपर जो भिन्न भिन्न तीन खुदी लिपियां दिखायी देती हैं उनकी आलोचना अगले अध्यायमें विस्तार-पूर्वक की जायगी। इस अध्यायमें जिन बातोंकी चर्चा की

---

(४) पूज्यपाद ऐतिहासिक तथा शिल्प समालोचक श्री युक्त अक्षय कुमार मैत्र महाशयका कथन है कि स्तम्भमें इस लेपकी रचना-प्रणालीका वर्णन है। बंगालके मासिक पत्रोंमें भी इसकी बहुत चर्चा हुई है।

(५) विन्सेण्ट स्मिथ अशोक स्तम्भको ग्रीक व पारस्य कला-पद्धतिके अनुसार बनाया गया बतलाना चाहते हैं। "* * * The Asoka pillars may be described as imitations of the Persian columns of the Archalmanian period with Menestic ornament." सुप्रसिद्ध चित्र शिल्पी हावेल (Havell) ने थोड़े ही दिन हुए भारतीय शिल्पपर यूनानियोंका प्रभाव पड़नेके मतका खण्डन किया है। पेशावर म्युज़ियमकी २४१ नंबरकी मूर्ति एवं अन्यान्य मूर्तियोंको देखकर यह जाना जाता है कि ग्रीक शिल्पियोंके बहुत समयें मांसपेशी (Muscles) की रचना करनेकी प्रवृत्ति न थी।

इन स्थूलोदर मूर्तियोंको देखकर उन्हें "भारतीय" छोड़ और कुछ नहीं कहा जा सकता। ग्रीक मूर्तियां स्थूलोदर नहीं होतीं। (cf. Sohrman's "Die Altindische saule" (Old Indian Halls)

गयी है, वे किन किन लिपियोंमें पायी गयी हैं, इसका विवरण भी यहीं दिया जायगा। यह अध्याय केवल लिपियोंके उल्लेख करनेमें ही समाप्त होगा।

मुख्यतः अशोक-स्तम्भके सिवाय मौर्य युगका और कोई शिल्प-निदर्शन सारनाथमें नहीं निकला। कुमरदेवीकी लिपिसे प्रकट होता है कि उन्होंने अशोक कालीन "श्री धर्म चक्रजिन" अथवा बुद्ध भगवान्‌की मूर्त्तिका संस्कार कराया था। (६) इतने समय तक इस सम्बन्धमें यूरोपीय लोगोंमें जो अज्ञान था, इस लिपिसे उसका अन्त हो गया और सत्यका प्रकाश हो गया। अब भी कितने ही यूरोपीय पुरातत्व-विशारदोंका मत है कि महायान सम्प्रदायके आविर्भावके पहिले बुद्ध या अन्य किसी देवताकी मूर्त्ति इस देशमें नहीं बनती थी। कुमर देवी यदि मिथ्यावादिनी न कही जाय,

(६) Epigraphica Indica Vol IX, P 325, also A S R. 1907-08, page 79.

* धर्म्माशोक नराधिपस्य समये श्री धर्म चक्रोजिनो
याहृक् तन्नय रक्षितः पुनरयं चक्रे ततोऽप्यद्भुतम्
वीहारः स्थविरस्य तस्य च तथा यस्मादयङ्कारितः
तस्मिन्नेव समर्पितश्च वसतादाचन्द्रचक्रस्थिति ।

डाक्टर वोगलने लिखा है:—A still further development in the History of Buddhism is illustrated by the numerous images of deities, of which the Sarnath excavations have yielded so many specimens The worship of these no doubt formed a part of the popular religion of India at an early stage, in fact it may in many cases go back to Pre-Buddhist times"

तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह धारणा बड़ी ही भ्रांति-मूलक है। विद्वानोंको यह बात कभी स्वीकार नहीं हो सकती कि अशोक-स्तम्भ या सांचीके समान सूक्ष्म शिल्पोंके बनाने वाले शिल्पी, भगवान् बुद्धकी मूर्त्ति बनानेमें असमर्थ थे। यूरोपियनोंका यह विश्वास बिल्कुल प्रमाण-शून्य है। अतः हम उसे ग्रहण नहीं कर सकते।

मौर्य्ययुगका दूसरा निदर्शन अशोक द्वारा निर्मित एक सुन्दर पाषाण-वेष्ठनी (Railing) है। इसकी आलोचना प्रसंगवश अन्यत्र की गयी है। यह पाषाण-वेष्ठनी प्रधान मन्दिरके दक्षिण वाले गृहमें ईंटोंके एक छोटे स्तूपके चारों ओर लगी हुई निकली है। इसमें आश्चर्यकी बात यह है कि यह वेष्ठनी एक ही पत्थरके टुकड़ेसे बनी है। उसमें कोई जोड़ नहीं है।

इसकी बनावट और पालिस साञ्ची और भरहुतमें पायी गयी रेलिङ्गके सदृश ही है। इस रेलिङ्गमें भी उसी प्रकारकी सूचियां लगी हैं जिस प्रकारकी सांची और भरहुत-में हैं। (१) उन रेलिङ्गोंपर जिस तरह दाताओंके नामकी छोटी छोटी लिपियां हैं उस भांति इसमें भी वर्तमान हैं। इस वेष्ठनीपर जो ब्राह्मी अक्षरोंमें एक छोटी लिपि है उससे प्रकट होता है कि "सवहिका" नामकी किसी मठ-वासिनीने इसे दिया था। मथुरा आदि स्थानोंमें बौद्ध युगके निदर्शन जिन्होंने देखे हैं, उनके लिये यह वेष्ठनी और सूची नयी नहीं है।

(१) Anderson's "Archaeological catalogue Part I. Indian museum p 9.

मौर्य युगके बाद शुङ्ग युगके एक सचित्र स्तम्भ-शीर्षने वैदेशिक शिल्पियोंकी दृष्टिको आकर्षित
शुंग युगका चिन्ह। किया है। यह स्तम्भ-शीर्ष (No D 9. 4) प्रधान मन्दिरके पश्चिमोत्तर कोणकी ओर मिला था। यह चपटा और दोनों ओर चित्रित है। एक ओरके चित्रमें एक पुरुष बड़े तावसे घोड़ा चलाता है। अश्वका गति भङ्ग, पुरुष-मूर्त्तिका हिलना एवं मुखका भाव इत्यादि देखने योग्य है। यह सम्पूर्ण चित्र स्वाभाविकतासे परिपूर्ण है और भारतकी प्राचीन चित्रकला-पद्धतिके अनुसार बनाया गया है। दूसरी ओरके चित्रमें एक हस्तीपर दो पुरुष आरूढ़ हैं। सामने महावत अंकुशकी मारसे हस्तीको चला रहा है। इसके पीछे एक व्यक्ति हाथमें पताका लिये बैठा है। अंकुशकी मार खाकर हाथी किस प्रकार सूंड़ सहित माथा ऊंचाकर पैर उठाये हुए है, आरोहीगण किस रूपसे तिरछे हो गये हैं पताका किस भावसे सञ्चालित हो रही है, ये सब भाव बड़ी दक्षतासे अंकित किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त शुङ्ग युगके कई एक वेष्टनी-स्तम्भ भी विशेष उल्लेख योग्य हैं। (No D a 1-12) ये मार्शल साहब द्वारा प्रधान मन्दिरके पूर्वोत्तर भूभागसे निकले थे। दो एकको छोड़ प्रत्येक स्तम्भके एक भागपर नानारूपके बौद्ध चिन्ह वर्त्तमान हैं। किसीपर माल्यादाम शोभित बोधिद्रुम, त्रिरत्न विज्ञापक त्रिशूल चिन्ह और किसीपर चक्र तथा चित्र खुदे हैं और किसीपर चक्र तथा छत्र वर्त्तमान हैं। D (a) 6 नं० स्तम्भपरके चित्र कौतूहल जनक हैं। आधा मनुष्य और आधा राक्षसवाली मूर्त्ति, हाथीके कान, तथा मछलीकी पूंछवाली मूर्त्ति, पुष्प, सिंह-मुख इत्यादि विशेष देखने योग्य हैं।

शुङ्ग युगका एक और चिह्न (B I नं०) पाया गया है। पुरुष मस्तकके दो ऐसे टुकड़े मिले हैं जिनमें दाहिना कान तो टूटा हुआ, पर बायाँ वर्तमान है। कानमें कोई आभूषण नहीं है। मस्तकपर देशीय प्रथाका सूचक जूड़ा बंधा है, जूड़ेको छोड़ शेष शिर मुंडा हुआ है। यह अटंल साहबके समयमें प्रधान मन्दिरके निकटवर्त्ती खातसे आविष्कृत हुआ था।

कुशान युगकी बौद्ध मूर्तिया।

शुङ्ग युगके पीछे भारतमें कुशान युगका आविर्भाव हुआ शुङ्ग युगके सदृश कुशान युगमें भी कितने-हा ऐतिहासिक निदर्शन सारनाथके भू-खननसे आविष्कृत हुए हैं। ये सभी बुद्ध मूर्त्तियाँ हैं। अतः कुमरदेवी द्वारा वर्णित मूर्त्तिकी बातका ख्याल न कर विदेशी पुरातत्वज्ञोंने इनमेंसे-ही प्रधान मूर्त्तिको सारनाथकी सबसे प्राचीन मूर्त्तिका नमूना ठहराया है। इनकी प्रधान युक्ति यह हैः— 'सबसे प्राचीन बुद्ध मूर्त्ति गान्धारके बैक्ट्रियन (ग्रीक) शिल्पियों द्वारा निर्मित हुई। वहाँसे इसका नमूना मथुरामें लाया गया और मथुरासे इसका प्रचार भारतके सम्पूर्ण बौद्ध स्थानोंमें हुआ। सारनाथकी यह बोधिसत्व-मूर्त्ति (बुद्धि मूर्त्ति नहीं) मथुराके लाल पत्थरसे बनी है। इस मूर्त्तिके देनेवाले भिक्षु बलकी ठीक ऐसी ही मूर्त्ति मथुरामें मौजूद है। (८) अतः स्वीकार करना पड़ता है कि सारनाथमें कोई मूर्त्ति इससे अधिक प्राचीन नहीं हो सकती।" हम इस युक्तिको स्वीकार करनेमें

(८) Sarnath Catalogue p 18.

असमर्थ हैं और इसके विषयमें एक प्रमाणका उल्लेखकर इस मूर्त्तिके आकारादिका वर्णन करेंगे। गान्धार या पेशावरमें अब तक जितनी बौद्ध कालीन मूर्त्तियाँ मिली हैं उनमें-से किसी भी मूर्त्तिको इस मूर्त्तिकी अपेक्षा पुरातत्वज्ञोंने प्राचीनतर प्रमाणित नहीं किया है। इस मूर्त्तिपर खुदी हुई लिपिको ही ये लोग कनिष्कके राज्यकालके तीसरे वर्षकी बतलाते हैं। यह मूर्त्ति आकारमें प्रायः ६ फुट ५ इञ्च ऊँची है। • इसका दाहिना हाथ टूटा है। करतलमें चक्र और प्रत्येक अंगुलीके सिरेपर शुभ-लक्षण-सूचक चिह्न खुदे हैं। ये दोनों चिह्न महापुरुषोंके लक्षणोंके अन्तर्गत हैं और बुद्धत्वके भी परिचायक (सूचक) हैं। इस मूर्त्तिका बायाँ हाथ कुछ तिरछे रूपमें कमरपर रखा हुआ है। कमरसे नीचे एक "अन्तरवासक" (धोती) पट्टी द्वारा बंधा है और ऊपरी भागपर ' उत्तरासंग" (चादर या दुपट्टा) है।

इसके वस्त्राभूषण आदिके देखनेसे यह मालूम होता है कि इस शिल्पीने स्वाभाविकताकी रक्षा करनेमें बड़ाही यत्न किया था। साहब लोगोंका विश्वास है कि इस तरहकी मूर्त्ति केवल ग्रीक लोगों द्वारा बनायी जा सकती थी। विपक्षमें अनेक प्रमाणोंके रहते हुए भी वे यदि ऐसी ही बातें सदा कहते रहें तब तो लाचारी है और इसका कोई उत्तर नहीं है।

दोनों पैरोंके बीचमें एक छोटे सिंहकी मूर्त्ति है। "डाक्टर वोगल" का कहना है कि यह बुद्धके शाक्य सिंह नामका परिचय देती है। किन्तु बोधिसत्वके पैरोंके नीचे शाक्य सिंहकी मूर्त्ति किस कारण रह सकती है यह हमारी समझमें नहीं आता। हम तो यह समझते हैं कि जिस कारण अशोक

स्तम्भके शीर्षपर चार पशुओंमें सिंहकी भी मूर्त्ति वर्तमान है, ठीक उसी कारणसे अथवा महायान पथके अनुसार किसी भिन्न ही कारणसे यह सिंहकी मूर्त्ति बनायी गयी है । मूर्त्तिके मस्तकके ऊपर एक बहुत बड़ा छत्र बना था । यह छत्र टूट गया है, इसके दश खण्ड निकले हैं, ये टुकड़े जोड़कर म्युज़ियममें रख दिये गये हैं । छत्रके मध्य भागमें पद्मका सा आकार खुदा है । उसके चारों ओर अनेक वृत्त वर्तमान हैं। एक एक वृत्तमें नाना जन्तुओंकी मूर्त्तियां, त्रिरत्न, मछलियोंके जोड़े, शंख स्वस्तिक आदि चिन्ह खुदे हैं। छत्रके स्तम्भपर जो लिपि खुदी है उसका वर्णन षष्ठ अध्यायमें सविस्तर किया जायगा ।

इस मूर्त्तिके सिवाय कुशान युगकी एक और मूर्त्ति विशेष उल्लेख योग्य है। इसका नम्बर B (a) 3 है। यह बोधिसत्वमूर्त्ति बहुत छोटी नहीं है। पांवोंके नीचेकी चौकीको मिलाकर इसकी ऊँचाई १० फुट ६ इञ्च है। मूर्त्तिका मस्तक टूट गया है। दाहिना हाथ ठीक पूर्वोक्त मूर्त्तिके सदृश है। इसका बायां हाथ कमरपर नहीं, परन्तु जांघपर वर्तमान है। इस मूर्त्तिका वस्त्र क्रमशः मिटता जाता सा मालूम होता है। इसके दोनों पैरोंके मध्यमें अस्पष्ट रूपसे जो एक छोटी मूर्त्ति दिखायी देती है अनुमानतः वह भी पूर्वोक्त B (a) I मूर्त्तिके सिंहके सदृश है। मूर्त्तिके चरणके दोनों ओर नम्र भावसे युक्त दो छोटी मूर्त्तियां देखी जाती हैं। सम्भवतः ये दोनों दो दाताओंकी मूर्त्तियां हैं। मस्तकके पीछे एक बड़ा प्रभामण्डल (Halo) था जिसका चिन्ह अभी तक वर्तमान है। इस मूर्त्तिपर पहिले लाल रंगका लेप लगा था, दोनों पैरोंमें

इसका चिन्ह अब तक मौजूद है। यह मूर्ति अर्टल साहब द्वारा की गयी खुदाईमें प्रधान मन्दिरके दक्षिण पूर्वकी ओर एक मध्य युगके स्तूप सहित निकली थी। इस मूर्तिपर जो छत्र लगा था वह तो प्राप्त नहीं हुआ किन्तु छत्रदण्ड इस मूर्तिके निकटही भूमिमें गिरा हुआ पाया गया है।

इस मूर्तिके अतिरिक्त एक और मूर्तिके प्रभामण्डलका अंश कुशान युगका बतलाया गया है B (a) 4। इसके सामनेके भागपर पीपलके पत्ते खुदे हैं। इससे यह अनुमान होता है कि जिस मूर्त्तिका यह अंश है वह मूर्त्ति गौतम बुद्धके बुद्धत्व लाभ करनेके पीछेकी अवस्थाको सूचित करनेके लिए बनी थी। मूर्त्ति अब तक नहीं पायी गयी है। इस पत्थरको लाल वर्णका देखकर यह मालूम होता है कि यह समूची मूर्त्ति मथुराके शिल्पियों द्वारा बनायी गयी थी, ऐसा पंडित दयाराम साहनीका अनुमान है।

इन ऐतिहासिक निदर्शनोंको छोड़कर और भी कुशान युगके कई नमूने म्युज़ियममें रखे गये हैं। किन्तु प्रयोजनाभावसे प्रत्येकका विशेष परिचय देना हम आवश्यक नहीं समझते।

गुप्त युगही सारनाथकी मूर्त्तिकारीके अभ्युदयका युग है।

गुप्त युगकी मूर्तियों-का परिचय।

सारनाथमें इसी युगको मूर्त्तियां सबसे अधिक हैं। इनकी कारीगरीमें अन्य युग-को मूर्त्तियोंकी अपेक्षा अधिक सफाई और सुन्दरता है। बोधिसत्व या बुद्धकी मूर्त्तियोंमें आसनों और मुद्राओंके भेद बड़ी स्पष्टतासे दिखलाये गये हैं। बोधिसत्वके लक्षणोंके अनेक चिन्ह इन मूर्त्तियोंमें

पाये जाते हैं। सारनाथमें इस युगकी बड़ी बढ़िया बढ़िया मूर्त्तियां निकली हैं। हम यहांपर सिर्फ नमूने (type) के तौरपर एक एक मूर्त्तिको एवं विशिष्टताज्ञापक कुछ और मूर्त्तियोंकी चर्चा करेंगे। कारीगरीके लिहाजसे गुप्त युगकी बुद्ध मूर्त्तियोंका यथेष्ट महत्व है। पुरातत्व-विशारद डाक्टर वोगल तकने इन मूर्त्तियोंको बौद्धतत्व-प्रकाशक कहकर इनके शुद्ध और प्रशान्त भावोंके स्पष्ट चित्रणकी बड़ी प्रशंसा की है। (९) इस युगकी मूर्त्तियोंके शिल्पमें वह सरलता नहीं है जो कुशानयुगकी मूर्त्तियोंमें हैं। फिर भी ये मूर्त्तियां शिल्पज्ञोंके लिये आदरकी वस्तु हैं। मूर्त्तियोंके प्रभामण्डल-के ऊपर नाना भांतिके लता-पत्र और अलंकार चित्रणकी कारीगरी असभ्यता सूचक नहीं हो सकती। इस युगकी मूर्त्तियां कुशान युगकी मूर्त्तियोंकी अपेक्षा छोटी और आर्य-भाव-प्रकाशक हैं। उनसे स्वाभाविकता झलकती है। कुशान युगकी मूर्त्तियोंके मुख देखकर मंगोलियन (कारीगरी) का जो भ्रम होता है वह इस युगकी मूर्त्तियोंको देखकर नहीं होता। इस बातका ऐतिहासिक प्रमाणोंसे भी सम्बन्ध है क्योंकि गुप्त युग ही बौद्ध पौराणिकताके विकासका समय था अतः इस युगकी मूर्त्तियोंपर भी उसके विविध चिन्ह पाये जाते हैं। (१०) गुप्त युगमें बोधिसत्वकी पूजाका बहुत

(९) Some of the Buddha Statues of this period, by their wonderful expression of calm repose and mild serenity, give a beautiful rendering of the Buddhist idea" Sarnath Catalogue p. 19.

(१०) यूची लोग मंगोलियाके ही आये थे। कुशान लोग यूचीलोगोंकी ही एक शाखा थे।

प्रचार हुआ इसी कारण अवलोकितेश्वरकी अनेक नमूनेकी मूर्त्तियां सारनाथके म्युजियममें इकट्ठी की गयी हैं। अब हम विशेष मूर्त्तियोंके वर्णनकी ओर झुकते हैं।

B (b) I—यह एक खड़ी बुद्ध मूर्त्ति है। दोनो पैर एवं बायां हाथ टूटा है। भिक्षुओंके उपयोगी "त्रिचीवरो" (११) (काषाय वस्त्रों) मेसे इस मूर्त्तिपर नीचे तो "अन्तरवासक" (१२)-और ऊपर "संघाटी" (१३) नामक वस्त्र वर्तमान है। नीचेके भागका वस्त्र "काया बन्धन" वा कटि बन्धन कमर-पट्टा द्वारा बंधा है। मूर्त्तिका दाहिना हाथ उठा हुआ देखनेसे यह मालूम होता है कि यह मूर्त्ति मानो अभयदान दे रही है। मूर्त्तिके केश लहरीदार और दाहिनी ओर कुछ लटके हुए सजाये गये हैं। मस्तकमें ऊर्णा चिन्ह (भ्रू मण्डलके बीच सौभाग्यसूचक एक प्रकारका चिन्ह) नहीं है। मूर्त्तिके मस्तकके पीछेका प्रभामण्डल गुप्त युगके शिल्प वैचित्र्यका सूचक है। प्रभामण्डलके किनारे अर्धचन्द्रके रूपमें खुदे हैं। ठीक इसी आकारके प्रभामण्डलवाली और "अभय मुद्रा" में बठी हुई सारनाथकी एक बुद्ध मूर्त्ति कलकत्तेके अजायब घरमें रखी है। उसका वर्णन

(११) विनय पिठकाके अनुसार भिक्षुको "त्रिचीवर" मात्रही पहिरनेका अधिकार है। त्रिचीवर-संघाटी, उत्तरासंग एवं अन्तरवास। उत्तरासंगको हवे इसके रंगके अनुसार काषायभी कहते हैं। परन्तु यह शब्द विनय पिठकामें नहीं है।

(१२) अन्तरवासक—नीचे पहरनेका वस्त्र।

(१३) संघाटी—ऊपर ओढ़नेका वस्त्र।

(२) शासक नवीन राज्यनियमोंको बना सकता है।

भारतवर्षमें शासन-विज्ञानकी उन्नति तो चाणक्य पर्यन्त होती रही। राष्ट्रीय सिद्धान्तोंकी ओर भारतीय जनसमाज क्यों न झुका यह रहस्यसे परिपूर्ण है। वास्तविक बात तो यह है कि भारतमें शासक लोग पाश्चात्य देशोंके सदृश कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं हुए। राज्यनियम तथा देशप्रथाकी व्यवस्था ब्राह्मणोंके हाथोंमें थी। वेद, स्मृति तथा सदाचार ही प्रामाणिक माने जाते थे। ब्राह्मणोंको राजा लोग मृत्युदण्ड या शारीरिक दण्ड कुछ भी न दे सकते थे। ब्रह्महत्या भयंकर पातक समझी जाती थी। विद्या-विज्ञानकी उन्नति तथा उसकी वागडोर ब्राह्मणोंके ही हाथोंमें थी। उन्होंने शासकवर्गसे कभी भी कष्ट न पाया था। यही कारण है कि शासकके निर्वाचनकी ओर उनका ध्यान ही न गया। राष्ट्रीय सिद्धान्तोंका उदय तथा राजनीतिक संगठनका उत्तमता वहां ही होती है जहां जनता परिवर्त्तन चाहती है। भारतमें परिवर्त्तनसे लोग डरते थे। राजनीतिक उन्नतिका आधार ही लुप्त था। राजनीतिक उन्नति होती कहांसे ?

यूनानकी स्थिति भारतसे सर्वथा भिन्न थी। ब्राह्मण तथा पुरोहित लोग वहां बहुत शक्तिशाली न थे। प्रकृति अदम्य तथा क्रूर न होकर उदार थी। देश पर्वतप्राय था अतः साम्राज्यकी प्रवृत्ति प्रबल रूप धारण न कर सकी। राष्ट्रोंमें पारस्परिक सम्बन्ध तथा पारस्परिक व्यवहारके शिथिल होनेसे राष्ट्र नागरिक राष्ट्रसे जातीय राष्ट्र न बन सके। नगरोंमें स्वेच्छाचारी राजाओं तथा कुलीनोंका शुरू २

में राज्य था परन्तु देरतक उनका राज्य न ठहर सका। इसका मुख्य कारण यह है कि एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राज्य वहां ही फलीभूत तथा दृढ़ हो सकता है जहां कि साम्राज्यकी संभावना हो और दूर दूरके प्रदेश सुगमतासे ही जोड़े जा सकें। पार्वतीय होनेसे यूनानी राष्ट्र नागरिक राष्ट्र ही बने रहे। वहां एकतन्त्र राज्य सफलतापूर्वक न चला, क्योंकि शासित तथा शासक एक दूसरेके अत्यन्त समीप थे। शासितोंका श्रद्धा शासकोंको भगवान्का अवतार भी इसी लिए न बना सकी। इसका परिणाम बहुत उत्तम हुआ। यूनानी राष्ट्रोंमें लोकतन्त्र राज्यका प्रचार हुआ। राजनैतिक परिवर्त्तनोंके साथ ही साथ राजनीतिक सिद्धान्त निकले। यूनानी लोग राष्ट्रको देवी सत्ता समझते थे। उसकी रक्षामें अपना तन मन धन स्वाहा करनेके लिए तैयार रहते थे। पार्वतीय प्रदेश होनेसे वहां लोकतन्त्र राज्यपद्धति प्रफुल्लित हुई। प्रत्येक नागरिक राज्य-कार्यमें भाग लेने लगा। शनैः शनैः प्रत्येक स्वतन्त्र पुरुष नागरिक बनना तथा राष्ट्रीय कार्योंका करना अपने जीवनका उद्देश्य बना बैठा। वहां प्रतिनिधितन्त्र शासनपद्धतिका इसलिए विकास न हुआ। यह स्वेच्छाचारी राज्यका एक रूपान्तर समझा जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी राष्ट्र लोकतन्त्र शासनपद्धतिको साम्राज्य संगठनके योग्य न बना सके और अन्तमें उनको सिकन्दरके एकतन्त्र राज्यमें संगठित होना पड़ा। पर सब हानि हुए भी यूनानी नागरिकोंने राजनीतिको बहुत उन्नत किया। यदि उनमें निम्नलिखित दोष न होते तो पता नहीं वे राजनीतिमें कहांतक उन्नति करते।

(क) यूनानी लोग दासताको बुरा न समझते थे इससे उनके नागरिकोंमें असमानता थी। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक अधिकारपर इसका कुछ भी अच्छा प्रभाव पड़ा।

(ख) यूनानी राष्ट्र बहुत छोटे थे। प्रतिनिधितन्त्र शासनप्रणालीका विकास वहां इसलिए न हो सका।

(ग) वर्त्तमान कालकी व्यावसायिक तथा आर्थिक समस्याएं वहां मौजूद न थीं।

(घ) उपनिवेशों तथा अधीन प्रदेशोंकी राज्यप्रणालीका ज्ञान उनको न था। उपनिवेशोंके साथ भी उन्होंने अधीन प्रदेशोंके सदृश ही व्यवहार किया।

अफ़लातून तथा अरस्तूने यूनानके राजनीतिक सिद्धान्तोंको बहुत अच्छी तरहसे प्रगट किया है। रोमने यूनानियोंका ही अनुकरण किया। केवल शासन-विज्ञानको ही उसने नवीन रूप दिया। सदाचार तथा धर्मसे राज्यनियमका पृथक् करना उसीका काम है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका उसने कुछ भी विचार न किया। राष्ट्रको ही उसने अपना सर्वस्व समझा। अपने अन्तिम दिनोंमें रोमने सार्वभौम राज्य स्थापित करनेका इरादा किया परन्तु पूर्णतया सफल न हो सका। पालीबियस तथा सिसरोने रोमन-राजनीतिको बहुत ही अच्छी तरह अपने ग्रन्थोंमें दिखाया है।

§ २८ *मध्यकालिक राष्ट्रीय सिद्धान्त:—*

मध्यकालमें राजनीतिक सिद्धान्तोंको उन्नत करनेमें दो बातोंने बड़ा भारी भाग लिया। वे निम्नलिखित हैं—

(१) ट्यूटन लोग.—ट्यूटनलोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके प्रेमी

थे । उन्होंने रोमन शासनप्रणालीमें वैयक्तिक स्वतंत्रताके तत्वको बढ़ाकर एकतंत्र शासनप्रणालीको नीव यूरोपमें रखी। क्षत्रियतंत्र (फ्यूडलिज्म) इसका परिणाम था ।

(२) चर्चः—चर्चकी प्रधानतासे राजाओंकी राज-शक्ति कम हो गयी और पोपका प्रभुत्व युरोपपर बढ़ा ।

संवत् १४०७ (१३५० ई०)के बाद यूरोपने अपनी केंचुली बदली। व्यापारके बढ़नेसे सर्वसाधारणकी शांति तथा समृद्धि बढ़ी । धर्मकी ओर लोगोंका झुकाव भी धीरे धीरे घट गया। प्रतिनिधि-तंत्र-शासनप्रणालीकी नीव जगह जगह पर पड़ गयी। इतिहासका सहारा लेकर पुराने विचारोंका खण्डन किया गया और नये नये सिद्धांत निकाले गये ।

§ २९. *अर्वाचीन राष्ट्रीय सिद्धान्तः—*

अर्वाचीन राजनीतिक सिद्धान्तोंपर विचार करनेके पूर्व उस परिस्थितिका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसके अन्दर उन्होंने जन्म लिया । नवीन कालके शुरू होते ही विचारकोंका ध्यान प्रोटेस्टैन्ट संशोधनोंकी ओर विशेष रूपसे गया । देखनेमें तो प्रोटेस्टैन्ट मत एक धार्मिक चीज़ थी परन्तु विकसित होनेपर यह राजनीतिक चीज़ निकली। महाशय काल्विनने राष्ट्रके सिद्धान्तोंपर विशेष प्रभाव डाला। उस ज़मानेमें यह एक विकट सम-

स्या था कि चर्चके साथ राष्ट्रका क्या सम्बन्ध हो । समाज तथा धर्मसंशोधकोंने बहुत विचारके बाद यही निर्णय किया कि चर्च तथा राष्ट्रकी शक्ति पृथक् हैं और एक दूसरेसे स्वतन्त्र हैं यद्यपि दोनोंही दैवी हैं। धीरे धीरे राज्यनियम तथा दैवी नियममें भेद स्थापित किया गया और लोग दैवी नियमके अनुसार चलनेके लिए प्रेरित किये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा तथा प्रजामें भयंकर मतभेद खड़ा हो गया । राजा अपने आपको ईश्वरका प्रतिनिधि समझकर स्वेच्छाचारी होना चाहते थे और सर्वसाधारण राजाको दैवी नियमोंका भंग करनेवाला समझकर वैयक्तिक स्वतन्त्रताकी ओर झुक रहे थे।

सदियों तक राजा-प्रजामें झगडा चला । अन्तमें लोगोंने विजय प्राप्तकर प्रतिनिधि-तन्त्र-राज्य प्रचलित किया । पुराने दैवी सिद्धान्तके महत्वको नष्टकर सामाजिक प्रण-सिद्धान्त बडे ज़ोरोंके साथ प्रगट हुआ । जनतामें राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति मानी गयी और व्यक्ति तथा राष्ट्रके पारस्परिक सम्बन्ध समयानुकूल किये गये । रूसो, आस्टिन तथा मेन आदि लेखक ही अर्वाचीन सिद्धान्तोंके कर्णधार हैं । अब उनके सिद्धान्तोंकी पर्य्यालोचना करनेका यत्न किया जायगा ।—

§ ३०. *सामाजिक प्रण-सिद्धान्तः—*

सामाजिक-प्रण-सिद्धान्तका महत्व बहुत ही अधिक है । इसीके द्वारा भिन्न २ लेखकोंने राष्ट्रके विकासको उचित रूपसे प्रगट किया । उसे निम्नलिखित तीन भागोंमें विभक्त करके इस सिद्धान्तपर प्रकाश डालनेका यत्न किया जायगा ।

(क) सामाजिक-प्रण-सिद्धान्तका स्वरूप।

(ख) सामाजिक-प्रण-सिद्धान्तका इतिहास।

(ग) हाब्स, लाक तथा रूसोका सामाजिक प्रण-सिद्धान्त।

(घ) सामाजिक-प्रण-सिद्धान्तकी पर्य्यालोचना।

क. सामाजिक-प्रण-सिद्धान्तका स्वरूप—सामाजिक-प्रण-सिद्धान्तके स्वरूपको समझनेके लिये निम्नलिखित तीन बातोंको ध्यानमें रखना आवश्यक है।

(१) नैसर्गिक दशा तथा नैसर्गिक नियम—सामाजिक-प्रण-सिद्धान्त माननेवालोंका ख्याल है कि कोई ज़माना था जब कि राज्यनामक संस्था विद्यमान न थी और न लोगोंमें राजनीतिक जीवन ही था। प्रकृति माताकी गोदमें पलते हुए प्राकृतिक नियमोंके अनुसार ही वे लोग चलते थे।

(२) राजनीतिक गुट्ट—चिरकाल तक लोग प्राकृतिक स्थितिमें न रह सके। या तो इसका यह कारण था कि वह जीवन इतना सुखमय था कि उसका देरतक जारी रहना असम्भव था अथवा वह जीवन स्वार्थ तथा मात्स्य न्याय-रूपी भयंकर तूफानोंसे इतना दुःखमय था कि उसको राज्यरूपी छत्रकी शरण लेनी पड़ी। प्राकृतिक तथा नैसर्गिक नियमोंका स्थान राष्ट्रीय नियमोंने लिया और जनसमाज भिन्न २ राजनीतिक गुट्टोंमें परिवर्त्तित हो गया। राष्ट्रका उदय इन्हीं राजनीतिक गुट्टोंके साथ विशेष रूपसे जुड़ा हुआ है।

(३) शासक गुट्ट—राजनीतिक गुट्टके साथ ही शासक गुट्टने अपना रूप प्रगट किया। लोगोंने अपना स्वतंत्रताको नियमबद्ध किया और बहुत-से अधिकार शासकोंको दिये। शासकों-की गुट्ट बन जानेपर उनके कार्यक्षेत्रका निश्चय किया गया।

यही संक्षेपतः सामाजिक-प्रण-सिद्धान्त है। भिन्न भिन्न समयोंमें विचारकोंने इसी सिद्धान्तके सहारे जनताके "प्रभु-त्वशक्ति" तथा नैसर्गिक नियमोंकी सभाको पुष्ट किया। यह सिद्धान्त कितना महत्वपूर्ण था, इस बातका ज्ञान इसके इतिहाससे हो हो सकता है। अब उस पर प्रकाश डालनेका यत्न किया जायगा—

(ख) सामाजिक प्रण-सिद्धान्तका इतिहास—सामाजिक प्रण-सिद्धान्तका आविष्कार सबसे पहले भारतीयोंने ही किया। महर्षि व्यासने शान्तिपर्वमें लिखा है कि पृथु महाराजको सामाजिक प्रण सिद्धान्तके अनुसार ही राज्य मिला। उसीके नामपर भूमिका नाम पृथ्वी पड़ा। संसार-के सबसे पहले शासक वही हैं। भिन्न २ पुराणोंने भी इसी बातको पुष्ट किया है। यूरोपमें सामाजिक-प्रण-सिद्धान्तका उदय यूनानियोंसे ही माना जाता है। प्रयत्न तथा हालके दिनोंमें इसका विशेष रूपसे प्रचार हुआ। अफ़ला-तून तथा अरस्तूने भी इस सिद्धान्तका उल्लेख किया है परन्तु उन्होंने इसको किसी प्रकारका विशेष महत्व नहीं दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि वे सामाजिक तथा राजनीतिक बन्धनको नैसर्गिक समझते थे। अरस्तूका यह कहना कि

'मनुष्य राजनीतिक जीव है' इस बातका साक्षी है कि यूनानी लोग राज्य तथा राजनीतिक बन्धनको नैसर्गिक समझते थे। कदाचित् व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका प्रश्न न उठनेका मुख्य कारण भी यही हो। यूनानी राष्ट्रोंके अधःपतनके बाद यूनानी दार्शनिकोंका ध्यान राजनीति शासनकी ओर बहुत न गया। ऐपीक्यूरियन सम्प्रदायके विचारकोंने यहां तक लिख दिया कि राज्योंके नियमोंके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति इसी लिए चलता है कि उसका इसीमें विशेष रूपसे हित होता है। राज्य विदेशी हो चाहे स्वदेशी हो सभी में यह बात लागू है"। रोमन राज्यनियमोंको उन्नत किया और लोगोंको गम्भीर विचार करने का अवसर दिया। उसी जमानेमें ईसाइयोंने स्वर्ण-युगकी कल्पना लोगोंके सामने रखी और राष्ट्रको एक 'बुराई' बतलाया। यूरोपमें जब विद्याका विस्तार शुरू हुआ तब दैवी तथा मानुषी नियमोंको सर्वथा पृथक् २ रखनेका यत्न किया गया। नैसर्गिक नियमोंको आधार बनाकर सामाजिक-प्रण सिद्धान्त उन्नत किया गया।

सम्राट् तथा पोपमें जब (यूरोपके अन्दर) झगड़ा शुरू हुआ, पादरियोंने सामाजिक-प्रण-सिद्धान्तका सहारा लेकर यह दिखाना शुरू किया कि राजाको शासनका अधिकार जनताने ही दिया है, उस जमानेके सारेके सारे विचारक इस सिद्धान्तको सच समझते थे और जनतामें ही राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिको मानते थे। सामाजिक-प्रणका स्वरूप क्या था-इसी पर प्रायः विवाद होता रहता था। कई लोग यह समझते थे कि जनताने सदाके लिए राजाको अपने अधि-

कार दे दिये और कई लोग यह समझते थे कि जनताने अच्छे शासनकी शर्तपर ही राजाको अपने अधिकार दे दिये हैं। यदि राजा अपने अधिकारोंका अनुचित प्रयोग न करे तो जनता उससे संपूर्ण अधिकार छीन सकती है। सतरहवी सदीमें सामाजिक-प्रण-सिद्धान्तने नवीन रूप प्राप्त किया। इंग्लैण्डमें लाक तथा हाब्जने और फ्रांसमें रूसोने इस सिद्धान्तको इतना अधिक वैज्ञानिक तथा महत्वपूर्ण बना दिया कि उसपर विस्तृत रूपसे विचार करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

(ग) हाब्ज लाक तथा रूसोका सामाजिक-प्रण-सिद्धान्त—**सत्रहवी** तथा अठारहवी सदीके राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तनोंने भी यूरोपको हिला दिया। नये नये सिद्धान्तोंने यूरोपीय रंगमञ्चपर अपना रूप प्रकट किया। उन सिद्धान्तोंके कर्णधारोंमें हाब्ज़ सबसे पहिले उत्पन्न हुआ। उसके बाद लाक तथा रूसोने उसकी नाव खेयी। अब क्रमशः एक २ पर प्रकाश डाला जायगा।

(१) हाब्ज—हाब्ज चार्लस् द्वितीयका शिक्षक रह चुका था। सदाचार तथा दर्शनशास्त्र सम्बन्धी बहुतसे ग्रंथ उसने लिखे थे। उसने अपने लैवियाथान (संवत् १७०८, सन् १६५१) नामक ग्रन्थमें सामाजिक-प्रण-सिद्धांतको बड़ा ही विचित्र रूप दिया। उसका विचार था कि स्वार्थ ही मनुष्यका नैसर्गिक धर्म है। इन्द्रियोंको शांत तथा संतुष्ट करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। यदि वह दया दिखाता है

तो इस लिए कि लोग उसकी अपरिमित शक्ति तथा उदारताकी प्रशंसा करें। प्रशंसा रूपी स्वार्थ ही उसकी दयाका मूल है। कभी कभी उसमें दया इस डरसे भी उत्पन्न होती है कि "कदाचित् इसी वेगको कष्ट मुझको भी किसी समयमें आ घेरे"। मनुष्य एक प्रकारका सामाजिक जीव है जो स्वार्थसे ही चलता है। इस लिए मात्स्य न्याय ही नैसर्गिक या प्राकृतिक नियम है। मात्स्य न्यायसे भयभीत हो कर ही लोगोंने राजाकी शरण ली। राजा लोगोंके सामाजिक प्रणका अंग न था। जनताने राजाकी शरणमें अपने आपको पारस्परिक स्वार्थके घातक प्रभावोंसे बचाया। यदि राजा कुछ अधिक अधिकारोंको भी काममें लाता है तो वह ला सकता है। जनताके साथ उसने ऐसा न करनेका प्रण नहीं किया। हाब्ज़ने इस सिद्धान्तके द्वारा स्टुअर्ट राजाओंके स्वेच्छाचारको पुष्ट किया।

(२) जॉन लाकः—जॉन् लाकके विचार हाब्ज़से सर्वथा भिन्न हैं। लाक मात्स्य न्यायको नैसर्गिक नियम नहीं समझता था। उसका विचार था कि नैसर्गिक नियम इतने विकट हैं कि उनका जानना बहुत कठिन है। इसी कठिनाईसे उसको अपनी स्वतन्त्रता छोड़नी

पड़ो । उन्होंने जिसको राजा चुना, उसको नैसगिक नियमोंको प लन करनेके लिये भी बाधित किया। राजा उनके सामाजिक प्रणका अंग था यदि राजा उस प्रणका भंग करे तो वह दण्डनीय है । लाकने इस सिद्धा-न्तके द्वारा परिमित एकतन्त्र राज्यको पुष्ट किया सं० १७४० (सन् १६८८) का राज्य क्रान्ति लाकके सिद्धान्तने बड़ा काम किया।

(३) रूसो—अठारवीं सदीमें रूसोका सामाजिक प्रण-सिद्धान्त बहुत ही अधिक प्रचलित था। उसने सन् १७६२ में 'सामाजिक प्रण' नामक ग्रन्थ लिखा। शुरूमे पदार्थोंकी अधिकतासे लोग सुखी थे। ज्यों २ उनकी जनसंख्या बढ़ी, पदार्थोंकी कमीका प्रश्न विकटरूप धारण करने लगा। लोगोंमें चोरी आदिकी आदतें उत्पन्न हुई। लाचार होकर लोगोंने अपने अपने अधिकारोंको एक समितिको सुपुर्द किया। राज्य सामाजिक प्रणका अंग न था। अन्तिम निर्णय लोगोंने अपने ही हाथोंमें रखा। लोकसमितिके पास ही प्रभुत्वशक्ति थी। प्रनिर्निधिको भी लोग बुरा समझते थे। इस सिद्धान्तने अठारहवीं सदीमें यूरोपीय जनताको राज्यक्रान्ति करनेके लिए उत्साहित किया। राष्ट्र तथा राज्यमें इसी सिद्धान्तके द्वारा भेद स्थापित हुआ।

अमेरिकाने राज्यक्रांति करते समय इसी सिद्धान्तका अवलम्बन किया। जैफर्सन तथा मैडीसनके लेखोंमें रूसोके सामाजिक प्रण-सिद्धान्तकी छाप अब तक देखी जा सकती है।

(घ) सामाजिक प्रणसिद्धान्तकी पर्यालोचना— अठारहवीं सदीमें डेविड ह्यूमने सबसे पहिले इस सिद्धान्तका खण्डन किया। उसके बाद इसपर आक्रमण होते ही रहे। जैरेमी बेन्थमने तो यहां तक कह दिया कि "मैं सामाजिक प्रणको सदाके लिये नमस्कार करता हूं। अच्छा है कि वही लोग इसमें अपना समय बितावें जिनको इसकी जरूरत हो"। महाशय ब्लुन्टश्ली इस सिद्धान्तको बहुत ही खतरनाक समझते हैं चूंकि इसके अनुसार राष्ट्र व्यक्तिगतस्वार्थका परिणाम सिद्ध हो जाता है।

(१) इस सिद्धान्तका सबसे पहिला बड़ा दोष यह है कि यह ऐतिहासिक नहीं है। एक भी ऐतिहासिक घटना ऐसी नहीं है जो यह प्रगट करे कि असंगठित तथा असामाजिक जीवन व्यतीत करने वाले लोग सामाजिक-प्रणके द्वारा राज्य तथा राष्ट्रकी कल्पना करनेमें समर्थ हुए हों। असभ्योंके जीवनकी छानबीन की गयी। वहां पर भी ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं उपलब्ध हुआ जिसके द्वारा सामाजिक प्रण-सिद्धान्त सत्य सिद्ध

किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं है कि राजनीतिक जीवनमें पड़े लोग जब राष्ट्रसे पृथक् होकर किसी जंगलमें उपनिवेश बसाते हैं, तब वे सामाजिक प्रणके द्वारा राज्यका निर्माण करते हैं। मेफ्लागरके धूरिटन लोगोंने ऐसा ही किया था। जहाजमें बैठे हुए १६२० की ११ वी नवम्बरको उन्होंने आपसमें एक प्रण किया कि हम लोग आगे चल कर राजनीतिक जीवन व्यतीत करेंगे। यह इसलिये कि हम लोग शान्ति तथा सुखसे जीवन व्यतीत कर सकें। सन् १६३८ में न्यूहवनके अन्दर जमींदार समितिने और १६३६ मे अमरीकन संगठनने इसी प्रकारके प्रणोंके द्वारा राजनीतिक जीवन व्यतीत करना शुरू किया। यदि सामाजिक प्रण--सिद्धान्तका यह तात्पर्य्य होता कि जरूरत पड़नेपर लोग आपसमें मिलकर विशेष प्रकारके राज्यकी स्थापना कर सकते हैं तब तो इसकी सत्यताका अपलाप करना असंभव हो जाता। हाब्ज, लाक तथा रूसोने जो कुछ सामाजिक प्रणका मतलब लिया वह इससे सर्वथा भिन्न है यही कारण है कि उनके सामाजिक प्रणको हमने कल्पित तथा असत्य प्रगट किया। इतिहासके द्वारा उसकी सचाईको पुष्ट करना कठिन है।

(२) दूसरी बात यह है कि उन्हींका सामाजिक प्रण सारी जनताको प्रणके अनुसार चला सकता है जिनका राजनीतिक जीवन हो। सामाजिक प्रणसिद्धान्त वाले पूर्वकालीन जनतामें राजनीतिक जीवनका अभाव मानते हैं। उस हालतमें उस प्राचीन प्रणका ही क्या रहा ? वह प्रण प्रामाणिक ही कैसे हो सकता है ?

(३) सामाजिक प्रण--सिद्धान्त विवेकपूर्ण भी नहीं है। व्यक्तियोंका राष्ट्रके साथ सम्बन्ध कृत्रिम नहीं है अपितु स्वाभाविक है मनुष्य राष्ट्रमें ही उत्पन्न होता है। राष्ट्रके नियमोंका पालन करना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस हालतमें सामाजिक प्रण--सिद्धान्त कैसे विवेकपूर्ण प्रगट किया जा सकता है, क्योंकि वह तो राष्ट्र तथा व्यक्तिके पारस्परिक सम्बन्धको कृत्रिम या सामाजिक प्रणका परिणाम प्रगट करता है। प्राचीन पुरुषोंने यदि कोई प्रण किया है तो उसको हम क्यों मानें। वे लोग लाखों गलतियां कर चुके हैं, उन गलतियोंपर हम क्यों चलें। यदि हमारे पूर्वज सतीकी रीतिके भक्त हों और पतिके मरने पर जीती जी स्त्रियोंको आगमें जला देते हों तो क्या हम भी उनका अनु-

करण करें ? सारांश यह है कि प्राचीन पुरुषोंका सामाजिक प्रण हमको किसी तरहसे उसके अनुसार चलनेके लिये बाधित नहीं कर सकता । यही कारण है कि सामाजिक प्रण -सिद्धान्त विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता ।

(३) सामाजिक प्रण--सिद्धान्तके आधारमें 'नैसर्गिक नियम' तथा नैसर्गिक अधिकारकी कल्पना काम कर रही है । हम आगे चल कर यह दिखावेंगे कि नैसर्गिक नियम तथा नैसर्गिक अधिकार कोई वस्तु नहीं यदि ये मान भी लिये जायं तो नैसर्गिक अधिकारका परिणाम प्रतिदिनका झगड़ा और अन्तमें शक्ति-सिद्धान्तकी मुख्य । जो ताक़त वाला होगा वही दुबलोंको अपने क़ाबूमें कर लेगा और उनपर हुकूमत करेगा । सारांश यह है कि स्वतन्त्रताका सम्बन्ध नियन्त्रणके साथ है । राज्यमें ही सब व्यक्ति स्वतन्त्रताका अनुभव कर सकते हैं । जहां निरंकुश स्वतन्त्रता हो वहां किसीकी भी स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकती ।

§३१ *सात्मिक या सेन्द्रिय सिद्धान्त ।*

राष्ट्रको एक चेतन शरीर मानकर सेन्द्रिय या सात्मिक सिद्धान्त राष्ट्र तथा व्यक्तिके पारस्परिक विरोधको

मिटानेका यत्न करना है। इस सिद्धान्तके पक्षपोषकों-का ख्याल है कि 'मनुष्य एक राजनीतिक जीव है'। उसका स्वाभाविक गतिका परिणाम राष्ट्र है। मनुष्योंके सदृश ही राष्ट्र उत्पन्न होते हैं। फलते फूलते हैं और नष्ट हो जाते हैं। राष्ट्रके अंग भिन्न भिन्न हैं जो कि भिन्न २ कामोंको हो करते हैं। राष्ट्र सोचता है, अनुभव करता है। राष्ट्र मनुष्य-को विराट प्रतिभा है।

यूनानी लोग राष्ट्रको सात्मिक मानते थे। मध्यकालमें जर्मन दार्शनिकों तथा राजनीतिज्ञोंने राष्ट्रके सात्मिकवाद-को विशेष तौरपर शुरू किया। आंग्लविचारक प्रायः इस सिद्धान्तके विरुद्ध हैं। विरोधमें वे लोग निम्नलि-खित युक्तियां देते हैं—

(क) व्यक्ति चेतन है परन्तु राष्ट्र नहीं। राष्ट्रकी शक्ति दिन पर दिन कम होती जाती है और उसके अंगभूत व्यक्ति-योंकी शक्ति दिनपर दिन बढ़ती जाती है। यदि राष्ट्र चेतन होता तो यह बात न होती। राष्ट्र शरीरा शक्तिके बढ़नेके साथ ही उसके अंगभूत व्यक्तियोंकी शक्ति बढ़ती। परन्तु यूरोपका इतिहास इसका उल्टा सिद्ध कर रहा है। यही कारण है कि राष्ट्र चेतन नहीं माना जा सकता।

(ख) चेतन मातापिताओंसे ही चेतन उत्पन्न होते हैं, परन्तु राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्रके सम्बन्धसे नहीं उत्पन्न होता। राष्ट्रका विकास जनताके संगठन पर ही निर्भर करता है। इस हालतमें राष्ट्रको चेतन मानना गलती करना होगा।

(ग) चेतनोंका विकास प्रकृतिसे सम्बद्ध है। मनुष्य

उसमें आधार भूत परिवर्तन नहीं कर सकता है। राष्ट्रोंके कार्य्योंको बदलना और उनमें संशोधन तथा परिवर्तन करना व्यक्तियोंके हाथमें है। इसी लिए राष्ट्र चेतन तथा शरीरी नहीं माना जा सकता है।

असली बात तो यह है कि राष्ट्रको शरीरी माननेसे बड़ी सुगमतासे ही बहुतसी समस्याएँ हल की जा सकती हैं। वस्तुतः चाहे राष्ट्र शरीरी न हो परन्तु चेतन मनुष्यका साधन होनेसे उसके कार्य्य ध्यान देनेके योग्य हैं। राष्ट्रको क्या करना चाहिये--यह प्रश्न प्रायः उठता है। गम्भीर विचार करें तो पता लग सकता है कि यह प्रश्न चेतनोंके मामलेमें ही किया जा सकता है। महाशय स्पेन्सरका विचार है कि राष्ट्रका मुख्य कर्त्तव्य पालन तथा रक्षण ही है। यह विचार भी तभी माना जा सकता है जब कि राष्ट्रको चेतन मानकर काम किया जाय। राष्ट्रका आदर्श क्या है? राष्ट्रको व्यक्तियोंके मामलेमें कहां तक हस्तक्षेप करना चाहिये? राष्ट्रको व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रताका किस सीमातक ख्याल रखना चाहिये? इत्यादि प्रश्न ही इस बातके साक्षी हैं कि राष्ट्रका सात्मिक तथा सेन्द्रिय सिद्धान्त कितना महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है

§ ३२. *दैवी सिद्धान्त*

राष्ट्रके दैवी सिद्धान्तको अब कोई भी सत्य नहीं समझता है। एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राज्योंके ख़ातमेके साथ इसका भी ख़ातमा हो गया। निस्सन्देह यह सिद्धान्त बहुत ही पुराना था। बहुतोंका तो यह विश्वास है कि राष्ट्रके जन्मके

साथही इस सिद्धान्तका जन्म है। जिस ज़मानेमें धर्म तथ राज्यनियमोंमें कोई भेद न समझा जाता था, उस ज़मानेमें दैवी सिद्धान्तका विशेष प्रचार था। राष्ट्र तथा राजा ईश्वर के पुत्र हैं यही विचार दैवी सिद्धान्तका आधार है। यहूदी लोगोंका तो यहांतक ख्याल था कि ईश्वर राज्यमें विशेषतौर पर भाग लेता है। यूनानी तथा रोमन लोग भी इस सिद्धान्तकी छापसे बचे न थे। वे भी राष्ट्र तथा राज्यका उद्भव दैवी समझते थे। कार्य्यक्षेत्रमें वे इस सिद्धान्तसे कुछ भी काम न लेते थे। मध्यकालमें जब चर्चकी प्रधानता शुरू हुई, दैवी सिद्धान्तने भी पूरा ज़ोर पकड़ा। लोगोंमें यह तो विश्वास पुराने समयसे चला आया था कि ईश्वर ही शासनकी शक्ति देता है। पोपकी शक्तिके बढ़नेपर इस विश्वासने इस विवादको खड़ा किया कि ईश्वर प्रत्यक्ष तौरपर शासनकी शक्ति पोपको देता है या राजाको? धर्म परिवर्तनके युगमें जनता तथा राजाके बीच यही विवाद खड़ा हुआ। राजाओंने अपने स्वेच्छाचारित्वको पुष्ट करनेके लिए दैवी सिद्धान्तका सहारा लिया और जनताके उठते हुए राजनीतिक जीवनको नष्ट करना चाहा। सर् राबर्ट फिलमर् तथा जेम्स प्रथमने अपने लेखोंके द्वारा दैवी सिद्धान्तको पुष्ट किया और राजा तथा राजशक्तिको ईश्वरीय प्रगट किया। उनका ख्याल था कि भगवान्ने शुरू २ में आदमको ही शासनकी शक्ति दी। उसीसे यूरोपके राजाओंने इस शक्तिको प्राप्त किया।

भारतवर्षमें भी दैवी सिद्धान्तका किसी न किसी युगमें अवश्यही प्रचार था। मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें राजाको

देवताओंके अंशसे उत्पन्न हुआ प्रगट करना इसी सिद्धान्त-का परिणाम है। आजकल दैवी सिद्धान्तपर किसीकी भी श्रद्धा नहीं है। प्राचीनकालमें असभ्य जंगली लोग नियन्त्रण तथा आज्ञापालनको कुछ भी न समझते थे। दैवी सिद्धान्त-ने ईश्वरको बीचमें डालकर उनको नियन्त्रण तथा आज्ञा-पालनके लिए प्रेरित किया। परन्तु आजकलकी जनता इस सिद्धान्तको किसी प्रकारका भी महत्व नहीं दे सकती। इससे किसी प्रकारका हित होना भी तो संभव नहीं है।

§ ३३. शक्तिसिद्धान्त

कोई समय था जब कि शक्तिसिद्धान्तने भी जनसमाज-में अपना रंग जमाया। शक्तिसिद्धान्तका जो कुछ ऐति-हासिक महत्व है वह तो भुलाया ही नहीं जा सकता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि राज्यको न्याययुक्त या अन्याययुक्त सिद्ध करनेमें भी इसका बड़ा भारी भाग है। शक्तिसिद्धान्तके अनुसार राज्यका उद्भव अत्याचार, स्वार्थ तथा युद्धसे हुआ है। शक्तिशाली लोगोंने दुबल लोगोंको और शक्तिशाली जातियोंने दुर्बल जातियोंको दबाकर प्रभुत्व प्राप्त किया। छोटे छोटे राष्ट्रोंका बड़े बड़े राष्ट्रोंपर प्रभुत्व और किसानोंपर ताल्लुकेदारोंका अत्याचार-पूर्ण शासन इसीका फल है। बड़े बड़े ताल्लुकेदार कैसे उत्पन्न हुए? पारस्परिक युद्धने जो जाति प्रबल हुई उसने दूसरी जातिके लोगोंको दास बना दिया और उनकी ज़मीनों तथा लोगोंको अपने छोटे सेनानायकोंके सुपुर्द कर दिया। ये ही छोटे छोटे सेनानायक कालान्तरमें ताल्लुकेदारके

नामसे प्रसिद्ध हुए। ताल्लुकेदारोंके सदृश ही विजयी जातिके मुखियाने राजा या सम्राट् पद ग्रहण किया। शुरू शुरूमें उसने विजित जातिके लोगोंपर कठोर शासन किया और अन्तमें उनको अपने साथ मिलाकर और उनको सान्त्वना देकर स्वजातिके लोगोंको भी कठोर जंजीरोंमें जकड़ दिया। शक्तिसिद्धान्तके अनुसार सम्राट् राजा तथा ताल्लुकेदार इसी प्रकार उत्पन्न हुए। मध्यकालमें पादरियोंने जनताको राजाओंके विरुद्ध भड़कानेके लिए इस सिद्धान्तका सहारा लिया। संवत् ११३७ (सन् १०८० ई०) में सप्तम ग्रेगरीने लिखा था कि-"यह बात किससे छिपी है कि राजा तथा ताल्लुकेदारोंका उद्भव उन लोगोंसे सम्बद्ध है जिन्होंने ईश्वरको भुलाकर अभिमान, विश्वास-घात और कतलेआमके द्वारा अपने ही मनुष्योंपर शासन करनेका यत्न किया।"

आजकल भी शक्तिसिद्धान्तको बहुतसे विचारक सत्य समझते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सरने अपने आदिम ग्रन्थोंमें लिखा है कि राज्य पाप तथा अधर्मका परिणाम है। अब तक उनपर उनके पापमय उद्भवकी छाया बनी हुई है। अराजकवादी लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके विशेष भक्त हैं। उन्होंने भी शक्तिसिद्धान्तके सहारे राज्योंपर काफ़ी कालिमा पोती है। आजकल पूंजीपतियों तथा श्रमियों का घोर विरोध है। साम्यवादियोंने पूंजीपतियों तथा आधुनिक राज्योंको पापी प्रगट करनेके लिए इसी सिद्धान्तका सहारा लिया है। काल मार्क्स, एन्जल्ज, तथा जर्मन साम्यवादियोंका कथन है कि राष्ट्र दुर्बलोंकी दुर्बलतासे लाभ

उठानेके उद्देश्यसे ही उत्पन्न हुए हैं। पूंजीपति तथा धनाढ्य लोग राष्ट्रकी कृपासे ही मेहनतियोंकी मेहनतका मुफ्तमें ही फल उठा रहे हैं। बेचारे गरीब लोग दिनभर मेहनत करते हैं और अमीर लोग उस मेहनतके बलपर भोग-विलासमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पूंजीपतियोंके खातिर नयी नयी लड़ाइयां लड़ी जाती हैं और युद्धोंमें बेचारे मेहनती कटवाये जाते हैं। कोई ऐसा अत्याचार नहीं बचा जो कि पूंजीपतियोंके निमित्त राष्ट्रोंने न किया हो। अफ्रीका तथा अमरीकाके पुराने निवासी बड़ी क्रूरतासे मारे गये। पेरू तथा मेक्सिको निवासियोंकी खानें लूटी गयीं। भारतका व्यापार-व्यवसाय नष्ट किया गया। असल बात तो यह है कि आजकल शक्तिका ही राज्य है। शक्तिशाली लोग जो करें वही ठीक है।

शक्तिसिद्धान्तके महत्वको देखकर ही महाशय नैब्लिनकने कहा था कि व्यक्तियोंको शक्तिशालीके सम्मुख सिर झुकाना ही चाहिये। इससे बचनेका उसके पास और तरीका ही क्या है? यहींपर बस नहीं, महाशय ब्लुन्ट्श्ली जैसे राजनीतिज्ञने यह लिख दिया कि "शक्तिसिद्धान्तमें बहुत कुछ सचाई है। "शक्ति" राष्ट्रका एक मुख्य साधन है। सामाजिक प्रण सिद्धान्तको मानकर यदि व्यक्तियोंकी इच्छाओंपर राष्ट्रका आधार रखा जाय तो राष्ट्र तो एक प्रकारसे निःशक्त तथा निर्जीव लोथ ही हो जायगा।" जो कुछ भी हो, हमारे विचारमें शक्तिसिद्धान्त ठीक नहीं है। जो चीज़ शक्तिके द्वारा उत्पन्न होती है वह शक्तिके नाशके साथही साथ नष्ट भी हो जाती है। यदि राष्ट्रका उदय शक्तिसिद्धान्तपर

आश्रित है तो फलतः शक्ति सिद्धान्तका परित्याग करते ही राष्ट्र नष्ट भी हो जायगा। परन्तु यह कौन मान सकता है ?

लडविंवान हालटने शक्तिसिद्धान्तको एक नये ढंग पर ही पेश किया हैं। आपका कथन है 'बली तथा शक्तिशाली ही राज्य करता है। वह अपनी शक्तिका प्रयोग अत्याचारमें न कर संरक्षणमें ही करता है। दुर्बलोंका कर्त्तव्य है कि वे बलियोंका सहारा लेकर अपना जीवन बसर करें। आज्ञापालन दुर्बलोंका और संरक्षण करना बलियोंका काम है। माता पिता, भाई बहिन, बालबच्चोंका पारस्परिक सम्बन्ध इसी सिद्धान्तपर आश्रित है। स्त्री पतिका, बालक मातापिताका कहना मानते हैं। इसके बदले वे संरक्षण तथा सुख प्राप्त करते हैं। राजा तथा प्रजाका सम्बन्ध भी इसी प्रकारका होना चाहिये। यही तो संसारका नियम है। सामाजिक प्रणपर संसारके सम्बन्ध स्थिर नहीं हैं। सूर्य हमको गरमी देता है। क्यों ? क्या उसने हमसे ठेका किया है ?" इस सिद्धान्तको हालटने एकतन्त्र राज्यके पुष्ट करनेमें लगाया। वास्तविक बात तो यह है कि हालटके मतसे सर्वथा विपरीत यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि 'बलियोंने जो कुछ अब तक किया वह दुर्बलोंको सतानेके लिए ही किया है। संसारका नियम भी यही है। बिल्ली चूहेको और कुत्ता बिल्लीको खाता है। मात्स्यन्याय ही संसारका संचालक है। सारांश यह है कि शक्तिसिद्धान्त चाहे वह हालटका हो और चाहे वह कार्लमार्क्सका हो, राष्ट्रके उद्भवको प्रगट करनेमें सर्वथा असमर्थ है।

§३४. *सामयिक विचार*

ऐतिहासिक सम्प्रदायको प्रबलताका हो यह परिणाम है कि आजकल राजनीतिक राष्ट्रको दैवी संस्था नहीं समझते हैं। रूसोका सामाजिक-प्रण-सिद्धान्त भी अब प्रामाणिक नहीं माना जाता है। वास्तविक बात तो यह है कि राष्ट्र भी प्राकृतिक तथा सामाजिक परिवर्तनोंका ही परिणाम है। अति प्राचीन कालमें लोग कारणवश किसी एक स्थानपर बस गये। देखते देखते ही अन्य सामाजिक आचार-व्यवहारके विकासके साथही साथ उनमें राष्ट्रका भी विकास हुआ। कोई भी एक ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो उस समयकी संपूर्ण परिस्थितियोंका खाका खींच सके। एक ही भूमिपर बसते हुए तथा एकही हवामें जीवन बसर करते हुए प्राचीन पुरुषोंमें यदि पारस्परिक सम्मिलन दृढ़ हो जाय तो आश्चर्य करना वृथा है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनका जीवन भयका जीवन था। देवों तथा असुरोंका संग्राम कई सौ वर्षों तक चला। इसी संग्रामके बीचमें असुरोंने राजाको निर्वाचित किया क्योंकि बिना राजाके संग्राममें विजय प्राप्त करना सुगम काम न था। इसी प्रकार पृथु महाराजको ब्राह्मणोंने "राजगद्दीपर बैठाया", परन्तु उनसे कई शर्तें मंजूर करवा लीं। पृथु महाराजको सामाजिक प्रणसिद्धान्तके अनुसार ही राज्य मिला। इतिहासमें ऐसा भी समय आ चुका है जब कि राजा देवताके सदृश पूजा जाने लगा था। राजाके 'दैवी सिद्धान्त' का रहस्य इसीमें छिपा है। ये ही सारीकी सारी बातें अति प्राचीन कालमें

भिन्न २ समाजोंमें भिन्न २ रूपसे विद्यमान थीं। इस प्रकार किसी एक सिद्धान्तके द्वारा राष्ट्रके विकासको दिखाना सुगम काम नहीं है। इसमें सन्देह भी नहीं है कि लोगोंमें आज्ञापालनका भाव उत्पन्न हो चुका था, उसके बाद ही उनमें राष्ट्रका विकास हुआ क्योंकि शासनका आधार आज्ञापालन ही है। आज्ञापालनकी आदत जिन मनुष्योंमें नहीं है उनमें राष्ट्रका विकास अबतक नहीं हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'राष्ट्रका विकास' भी सामाजिक परिवर्तनोंका एक अंश है। एक स्वार्थ, भौगोलिक एकता, सहनिवास, समान जात, समान भय आदि अनेक कारण मिल कर मनुष्योंको संगठित करते हैं। ये ही राष्ट्रके उद्भवके मोटे मोटे कारण हैं।

राष्ट्र एक प्रकारका राजनीतिक जीव है। इसकी इच्छा ही राज्यनियम है। अन्य राष्ट्रोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करना, राज्य रूपी संस्थाको बनाना, भिन्न २ विभागोंकी शक्तियोंको नियत करना, भिन्न २ व्यक्तियोंको अधिकार देना, नागरिकोंकी स्वतन्त्रताका ख्याल रखना आदि काम इसीके हैं। इसीसे यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति ही राष्ट्रका जीवन है। इसी प्रभुत्वशक्तिके सहारे यह सारेके सारे काम करता है। यदि राष्ट्रके पास प्रभुत्वशक्ति न हो तो व्यक्तियोंका नियमन तथा परिपालन असम्भव हो जाय।

राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिका अपरिमित, निर्बाध तथा पूर्ण स्वतन्त्र होना आवश्यक है। कभी कभी राष्ट्रोंपर अन्य राष्ट्रोंका शासन तथा प्रभुत्व होजाता है। ऐसे पराधीन राष्ट्रोंकी

प्रभुत्वशक्ति दूसरे राष्ट्रोंके हाथोंमें चली जाती है। बहुतसे विचारक तो प्रभुत्वशक्तिको अपरिमित, निर्बाध तथा स्वतन्त्र न मानकर सापेक्षक;मानते हैं। परन्तु एक बात है जिसे यहांपर न भूलना चाहिये। राष्ट्रकी स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रकी अन्तरीय प्रभुत्वशक्ति--ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। राष्ट्रकी स्वतन्त्रताका आधार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंपर है। यह अपरिमित न होकर सापेक्षिक होती है। इसमें सन्देह भी नहीं है कि कानूनी तौरपर प्रत्येक राष्ट्र स्वतन्त्र है और वह जो चाहे करे, जिस प्रकारकी सन्धि करना चाहे करे कोई उसको मना नहीं कर सकता। उसे अपने जीवनको सामने रखते हुए अन्य राष्ट्रोंका और सन्धियाँ तथा युद्ध करते हुए अन्य राष्ट्रोंकी शक्तिका ध्यान रखना ही पड़ता है। इस प्रकार उसकी स्वतन्त्रता सापेक्षिक है। परन्तु उसकी प्रभुत्वशक्तिके साथ यह बात नहीं है। वह तो अपरिमित, निर्बाध तथा पूर्ण स्वतन्त्र होती है।

राष्ट्रके क्या क्या कार्य्य हैं इसपर बड़ा मतभेद है। बहुतोंका विचार है कि संरक्षण तथा नियमनके सिवाय राष्ट्रका कोईभी अन्य काम नहीं है। इसके विपरीत कुछ लोग व्यक्तियोंके प्रत्येक काममें राष्ट्रका हस्तक्षेप उचित बताते हैं। वे इसमें कुछ भी हानि नहीं देखते। प्रसन्नताकी बात है कि आजकलके राजनीतिज्ञ मध्यममार्ग परही चल रहे हैं। उनका ख्याल है कि स्पर्द्धासे बहुत काम अच्छे ढंगपर होते हैं अतः बहुतसी बातोंमें व्यक्तियोंको पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। राज्य भी राष्ट्रकी उन्नतिका एक उचित तथा हितकर साधन है। इस हालतमें उसको उन २ स्थानोंमें

अवश्यही हस्तक्षेप करना चाहिये जहां हस्तक्षेप करनेसे राष्ट्रका अधिकसे अधिक भला संभव हो ।

असल बात तो यह है कि किसी भी एक सिद्धान्तका अवलम्बन करना सुगम काम नहीं है। हमलोग अपने समयके हो प्रतिबिम्ब हैं। जो हम आज ठीक समझते हैं, हो सकता है कि समाजमें ऐसे भयंकर परिवर्तन आजायँ कि अगले लोग उसको निरर्थक तथा भ्रममूलक समझने लगें। आजकल राष्ट्र सम्बन्धी जो २ सिद्धान्त प्रचलित हैं अब उनको दर्शानेका यत्न किया जायगा और उनमें जितनी २ सत्यता है इसपर भी प्रकाश डाला जायगा।

§ ३५ राष्ट्रका विकाससिद्धान्त

अभी लिखा जा चुका है कि ऐतिहासिक सम्प्रदायके लोग राष्ट्रके विकासको सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवर्तनोंका ही एक भाग समझते हैं। उनका ख्याल है कि राष्ट्रके विकासका कोई एक कारण नहीं है। राष्ट्र आविष्कार नहीं है, अपितु राष्ट्र सामाजिक परिवर्तनोंका परिणाम है। शनैः शनैः होते हुए परिवर्तनों तथा सुधारोंसे ही राष्ट्र विकसित हुआ है। प्रोफेसर बगसने ठीक कहा है कि "राष्ट्र ऐतिहासिक परिणाम है।" इस सिद्धान्तका यह अर्थ है कि राष्ट्र असभ्य ज़मानेके अपरिपूर्ण संगठन सम्बन्धी परिवर्तनोंमेंसे-जिनका कि झुकाव परिपूर्ण सार्वभौम संगठनकी ओर था—विकसित हुआ है। मनुष्यकी आध्यात्मिक तथा आर्थिक उन्नतिको पूर्ण मानकर राष्ट्रके विकासका पता लगाना कठिन है। पशुओंमें प्रकृतिजन्य अविवेकपूर्वक संगठन विद्यमान है। किसी ज़मानेमें मनुष्यों-

की भी यही स्थिति थी। धीरेधीरे मनुष्योंने प्रकृतिजन्य संगठनके कारणोंका पता लगाना शुरू किया और अपने परिमित विवेक तथा ज्ञानसे किसी हद तक उसको उन्नत भी किया। राष्ट्रका उदय तो अन्धकारमें छिपा है। मनुष्यके विकासके साथही उसके उदयका सूत्र बंधा हुआ है। कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इस सूत्रका पता नहीं लगा सकता। जो कुछ कहा जा सकता है वह यही है कि राष्ट्रका उदय ऐतिहासिक विकासके साथ सम्बद्ध है। कोई ज़माना था जब कि राजनीतिज्ञ लोग राष्ट्रका उत्पत्तिस्थान परिवार या कुलको समझते थे, परन्तु अब इस सिद्धान्तपर लोगोंकी श्रद्धा नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है।

§ ३६ राष्ट्रका पारिवारिक सिद्धान्त

प्राचीनसे प्राचीन समाज-संगठनका पता लगानेके लिए बहुत खोज की जा चुकी है, परन्तु विशेष सफलता न हुई। संसारके सभी मनुष्य किसी न किसी प्रकार संगठित ही हैं। अति प्राचीन संगठन क्या है इसका जानना कुछ २ असम्भव है। इतिहासद्वारा हमको जो कुछ पता मिलता है वह यही है कि अति प्राचीन कालमें लोग भिन्न २ परिवारोंमें विभक्त थे। कुल तथा जातिका भाव उनमें बहुतही अधिक प्रबल था। कुलपतिकी आज्ञाके अनुसार चलना प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य समझता था। परिवारके सभ्योंके झगड़ोंको वही निपटाता था।

कुलपति तथा परिवारमें प्राचीन समाजको संगठित देखकर राजनीतिज्ञोंका विश्वास है कि राष्ट्रका विकास भी

इसी स्थानपर हुआ । लोगोंने पारिवारिक संगठनको उन्नत कर राष्ट्रीय संगठनको जन्म दिया । इस विचारका एक मुख्य गुण यह है कि इससे राष्ट्रका विकास अनुचित, नहीं रहता । राष्ट्रीय संगठन स्वाभाविक तथा न्याययुक्त है यह इस सिद्धान्तसे बहुत ही अच्छी तरह पुष्ट हो जाता है । राष्ट्रीय संगठन पराधीनताका मुख्य आधार है । यह वह विष है जिससे मनुष्य समाजको अपने आपको बचाना चाहिये । यह वह सूत्र है जिसमें बंधकर लोगोंका स्वभाव दासतामय होगया है और लोग अबतक स्वतन्त्रतारूपी अमृतको न चख सके हैं। अराजकवादियोंके इस प्रकारके विचार पारिवारिक सिद्धान्तसे निर्मूल हो जाते हैं । सबसे बड़ी बात तो यह है कि जातियोंका उदय भी इस सिद्धान्तके सहारे क्रमबद्ध प्रगट किया जा सकता है । परिवारसे जात, जातसे जातिका उदय अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है । महाशय अरस्तूने भी इसी विचारको पुष्ट किया है । उन्होंने लिखा है कि "परिवार ही सबसे पहला संगठन है ·····जब बहुतसे ग्रामीण परिवार आपसमें मिले तो राष्ट्र उत्पन्न हो गया ।" मध्यएशियाकी भ्रमणशील जातियोंके जीवनों तथा संगठनोंके अध्ययनसे भी पारिवारिक सिद्धान्त ही सत्य-प्रतीत होता है, परन्तु यहांपर एक बात न भुलानी चाहिये । इस सिद्धान्तको सार्वभौम सत्यके रूपमें प्रगट करना असम्भव है । क्योंकि बहुतसे देशोंमें परिवारसे राष्ट्रका विकास नहीं भी हुआ ।

उन्नीसवीं सदीके विज्ञान तथा विवेकपूर्ण अन्वेषणोंने यह स्पष्ट रूपसे प्रगट करदिया है कि राष्ट्रके उदयको किसी भी

एक सिद्धान्तके द्वारा प्रगट करना असंभव है। पारिवारिक सिद्धान्तके विरोधियोंने ऐतिहासिक दृष्टान्तोंके द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि परिवार सबसे प्राचीन संगठन नहीं और न राष्ट्ररूपी संगठनका आधार ही इसपर सब स्थानोंमें रहा। महाशय जे एफ मैक्लैनन तथा उनके अन्य साथियोंने यह अच्छी तरहसे पुष्ट कर दिया है कि अति प्राचीन जन समाजमें विवाह-पद्धति मौजूद न थी। उनमें पति पत्नीका विचार न था। माताही वंशका आधार थी। एक मातासे उत्पन्न बच्चे अपने आपको भाई भाई तथा सगेसंबन्धी समझते थे। महाशय जैन्कसने अपने राजनीतिशास्त्रके इतिहासमें यह स्पष्ट तौरपर दिखाया है कि आस्ट्रेलिया तथा मलाया-के प्राचीन लोगोंमें अभीतक यह विद्यमान है। उनमें संपूर्ण सम्बन्ध ही मातृ-वंशसे शुरू होते हैं। मातृकुलमें उत्पन्न स्त्रियों तथा लडकियोंके साथही लोग शादी करते हैं। उनमें पितृ वंशका तो पता ही नहीं चलता।

पारिवारिक सिद्धान्तको असत्य सिद्ध करने में मातृ वंशीय सिद्धान्तका बड़ाभारी भाग है। कठिनाई तो यह है कि यह भी त्रैकालिक सत्य नहीं है। भ्रमणशील जातियोंमें बहुधा मातृ वंशसे ही सम्बन्ध होता है। कृषि आदि करनेके लिये जब वह किसी एक भूमिपर बस जाती हैं तो उनमें पारिवारिक जीवन शुरू हो जाता है। पारिवारिक जीवनका पुरुषोंकी प्रधानता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। धीरे धीरे उनमें वंशका आरम्भ पुरुषोंसे माना जाने लगता है। वस्तुतः दोनोंही सिद्धान्त राष्ट्रके उदयको प्रगट करने में असमर्थ हैं। मनुष्य समाजका आरम्भ कबसे हुआ और कैसे हुआ इसका

ज्ञान अभी तक किसीको भी नहीं है। जब तक यह न बतालें तब तक राष्ट्रके उदयकी समस्याको हल करना असंभव है।

§ ३७. *अरस्तूका विचार*

राष्ट्रके विकासको क्रम बद्ध बताना सुगम काम नहीं है। किसी भी सिद्धान्त या विचारके अनुसार राष्ट्रके विकासके क्रमोंका पता लगानेमें बहुत कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। विकास तो अवश्यमेव हुआ है। प्राचीनकालके पारिवारिक या मातृ-वंश-प्रधान राष्ट्रोंसे आजकलके राष्ट्र सर्वथा भिन्न हैं। आजकल राष्ट्रोंका संगठन बहुत ही पेचीदा और उनकी शक्ति बहुत ही अधिक विस्तृत है। परन्तु इस विकासको किसी एक ढांचेमें ढालना तथा किसी एक नियमके अनुसार क्रम बद्ध दिखाना असम्भव है। बहुतसे राष्ट्रोंने जिस एक बातको बड़ी मेहनतसे सैकड़ों सालोंमें प्राप्त किया, दूसरे राष्ट्रोंने उसको नकल कर कुछ ही दिनोंमें ग्रहण कर लिया। इंग्लैण्डने प्रतिनिधितन्त्र राज्यको शनैः शनैः प्राप्त किया। परन्तु अमरीका तथा फ्रान्सने राज्यक्रान्तिके द्वारा इसको एक ही दिनका खिलवाड़ बना दिया।

इन सब कठिनाइयोंके होते हुए भी राजनीतिज्ञ लोगोंने अति प्राचीनकालसे राष्ट्रके विकासके क्रमोंको दिखानेकी धुन न छोड़ी। महाशय प्लेटोने राष्ट्रीय विकासका चक्र और अरस्तूने उसका क्रमबद्ध परिवर्तन दिखाया। प्लेटोका विचार था कि राष्ट्रोंके राजनीतिक जीवनका विकास तथा ह्रास किसी एक नियत क्रमके अनुसार ही होता है। यूनानी राष्ट्रोंकी कुलीनतन्त्र शासन पद्धतिका सैनिकतन्त्र

शासन पद्धतिमें और धनिकतन्त्र शासनपद्धतिका लोकतन्त्र शासन पद्धतिमें और उससे एकतन्त्र शासन पद्धतिमें परिवर्तन होना उसकी आंखोंके सामने नाच रहा था। अरस्तूने प्लेटोके इस विचारको असत्य प्रगट किया और अपने क्रमके द्वारा राष्ट्रके विकासको दिखानेका यत्न किया। उसका ख्याल था कि राष्ट्रीय परिवर्तनका क्रम एकतन्त्रसे धनिकतन्त्र और धनिकतंत्रसे स्वेच्छाचार पूर्ण एकतन्त्र शासन पद्धतिकी ओर है। इसमें सन्देह नहीं है पुराने ज़मानेके यूनानी राष्ट्रोंके लिए यह क्रम ठीक था। परन्तु आजकलके परिवर्त्तनोंको जाननेमें यह कुछ भी सहायता नहीं देता है।

§ ३८ राष्ट्र विकासमें सैनिक तथा आर्थिक तत्व

कुछ राजनीतिज्ञ सैनिक शक्तिको ही राष्ट्रविकासका मुख्य कारण समझते हैं। महाशय जैन्क्सने अपने राजनीति शास्त्रके इतिहासमें लिखा है कि राष्ट्रके विकासका युद्ध कौशलके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। आजकलके प्रत्येक राष्ट्रका उदय क्रम बद्ध युद्धोंका ही परिणाम है। निस्सन्देह आधुनिक राष्ट्रोंको आत्मरक्षणके लिए युद्ध करना पड़ता है। परन्तु उनको युद्धका परिणाम समझना भयंकर भूल होगी। इसके विरुद्ध महाशय कार्ल मार्क्सने राष्ट्रको आर्थिक तत्वोंका परिणाम कहा है। उसका कथन है कि सामाजिक संस्थाओंके सदृश ही राष्ट्रका विकास आर्थिक तत्वोंके साथ घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है। वर्तमान राष्ट्र उस प्रकारके संगठनको मुख्यता देरहे हैं जिसके द्वारा पूंजी पति श्रमियोंकी मेहनतका फल स्वयं भोग रहे हैं। सारांश यह है कि राष्ट्रका उदय

इतना पेचीदा है कि केवल एक ही कारण उसके रहस्यको सुलझानेमें असमर्थ है। इसमें संदेह नहीं है कि राष्ट्रके उदय होनेके बाद कभी आर्थिक कारण और कभी युद्ध आदि राष्ट्रकी गति निर्धारित करनेमें मुख्य हो चुके हैं। राष्ट्रका उदय उसकी गतिसे सर्वथा भिन्न है। वह तो मनुष्य समाजके उदय होनेके साथ ही उत्पन्न हुआ है। राष्ट्रके विकासकी गति इतिहाससे जानी जा सकती है परन्तु राष्ट्रके विकासको जानना बहुत ही कठिन है।

§३६. *राजनीतिक विकासके साधारण चिन्ह।*

किसी एक राष्ट्र विशेषके उदय तथा ह्रासका पता लगाना इतिहासका काम है। राजनीतिशास्त्र तो उसके नियमों तथा सिद्धान्तोंका ही पता लगाता है। शोककी बात है कि राजनीति शास्त्र अभीतक इतना परिपूर्ण नहीं हुआ कि किसी भी राष्ट्रको देखकर उसके विषयमें भविष्यद्वाणी भी कर सके और उसकी उन्नतिके मार्गको स्पष्ट तया दिखा सके। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि प्राचीन कालके राष्ट्रोंसे आजकलके राष्ट्र सर्वथा भिन्न हैं। महाशय लीकाककी सम्मतिमें यह भेद निम्नलिखित बातोंमें है।

(१) छोटे छोटे राज्योंकी भी भूमि बहुत ही अधिक है। सारे संसारकी भूमिका क्षेत्रफल ५२३००००० वर्गमील है। इसमेंसे ११५१६००० वर्गमीलपर इंग्लैण्डका, ८६६०००० वर्ग मीलपर रूसका और ३५६७००० वर्ग मीलपर अमेरिकाका राज्य था। माना कि प्राचीनकालमें भी बड़े बड़े साम्राज्य थे। चन्द्रगुप्तका साम्राज्य तथा रोम साम्राज्य भी था। परन्तु

आजकल तो साम्राज्यवादकी लहर खूब विस्तृत चली हुई है। प्राचीनकालमें यह इतनी प्रबल न थी।

राष्ट्रके कार्य्योंकी स्थिरता।

(२) राष्ट्रके कार्य्य भी पूर्वापेक्षा अधिक स्थिर तथा विवेकपूर्ण हैं। असभ्य लोगोंके राज्य-नियमोंके आधार रीतिरिवाज हैं। रीतिरिवाजोंका विवेक पूर्ण तथा हितकर होना आवश्यक नहीं है। परन्तु आजकल यह बात नहीं। समाज जिस बातको करना आवश्यक समझता है उसीको राज्य नियमोंके द्वारा प्रचलित करता है।

राजनीतिक जीवनका जनतामें उत्पन्न होना।

(३) पुराने ज़मानेकी अपेक्षा आजकल लोगोंमें राजनीतिक जागृति बहुत ही अधिक है। राज्य सञ्चालनमें जनताका भाग दिनपर दिन अधिक होता जाता है। राज्यका स्वेच्छाचार तथा अत्याचार यूरोपीय राष्ट्रोंमें बहुत ही कम हो गया है।

धर्म्मका राज्य नियमसे पार्थक्य।

(४) धर्म्म तथा राज्य नियमका पृथक् पृथक् हो जाना भी ध्यान देनेके योग्य है। प्राचीन कालमें ब्राह्मण ही राज्यनियमोंको चलाते थे और बहुधा राजनीतिक शक्तिको भी काममें लाते थे। यूरोपमें तो पादरियोंने राज्यकी नकेलको ही अपने हाथोंमें कर लिया था। आजकल यह नहीं रहा। धर्म्म तथा मत-मतान्तरोंके विवादोंको लोग पसन्द नहीं करते हैं। पादरियोंकी स्थिति भी राष्ट्रमें बहुत उच्च नहीं है। धर्म्मका राज्यनियमोंके साथ किसी प्रकारका भी विशेष सम्बन्ध नहीं रहा।

इन उपरि लिखित बातोंको ठीक ठीक समझनेके लिए "यूरोपमें राजनीतिक विचारोंका उदय किस प्रकार हुआ?" यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। अब इसी विषयपर विस्तृत रूपसे प्रकाश डाला जायगा।

छठाँ परिच्छेद

राष्ट्र विषयक सिद्धान्तोंका इतिहास

§४० *भारतमें राष्ट्रीय विचार*

भारतवर्षमें ही सबसे पहले पहल राजनीतिक विचारोंका उदय हुआ। भारतके प्राचीन राजनीतिज्ञ राजनीति शास्त्रकी उत्पत्ति देवलोकोंसे बतलाते हैं। महर्षि व्यासने महाभारतमें राजनीतिके चार पांच संप्रदायोंका उल्लेख किया है। उनके विचारमें भारतमें राजा सामाजिक प्रणका परिणाम है। प्रजाका पालन तथा रक्षण ही उसका मुख्य कर्तव्य है। राजा ब्राह्मणोंका स्वामी नहीं है और यही कारण है कि वह ब्राह्मणोंको मृत्युदण्ड या अन्य किसी प्रकारका शारीरिक दण्ड नहीं दे सकता। व्यासके अनन्तर शुक्रसंप्रदाय तथा चाणक्यने राजनीतिशास्त्रको उन्नत किया। एकतन्त्र राज्यपद्धतिके होनेसे और धर्म-राज्यनियम तथा ब्राह्मणोंपर राजाका प्रभाव न होनेसे राजा यूरोपीय देशोंके सदृश भारतमें स्वेच्छाचारी न हो सके। यही कारण है कि भारतीय राजनीतिज्ञोंका लोकतन्त्र राज्यपद्धतिकी ओर कुछ भी ध्यान न गया। चाणक्यने शासनविज्ञानको बहुत ही अधिक उन्नत किया। उसका 'अर्थ शास्त्र'

महर्षि व्यास

नामक ग्रन्थ राजनीतिक संस्कारके लिये एक अद्भुत रत्नका काम कर रहा है ।*

§४१ यूनानमें राष्ट्रीय विचार

अफलातून या प्लेटो ।

सबसे पहले यूरोपीय देशोंमें यूनानने ही राष्ट्रसम्बन्धी विचार प्रगट किये । यूनानियोंका उद्देश्य उच्च और आचार स्पृहणीय था । इसका राष्ट्रीय विचारोंपर भी अच्छा प्रभाव पड़ा । अफ़लातूनने लिखा है कि "अतिशय "उन्नत राष्ट्र वही है जो कि मनुष्योंके बहुत पास तक पहुंचे" । एक अंगमें कष्ट होनेपर जिस प्रकार संपूर्ण शरीरको कष्ट पहुंचता है, उसी प्रकार उन्नत राष्ट्रमें राष्ट्रशरीरीपर उसके अंगभूत व्यक्तियोंके सुखदुःखका प्रभाव पड़ता है । अफलातून राष्ट्रको सात्विक, चेतन, शरीरी मानता था, यह उपरिलिखित वाक्यसे ही स्पष्ट है । इसमें सन्देह भी नहीं है उसने राष्ट्रके सात्विक विचार (Organic conception) को पूर्ण उन्नति दी । उसके विचारमें राष्ट्रकी पूर्णता ही नागरिकोंका अन्तिम उद्देश्य होना चाहिए । इसी उद्देश्यकी पूर्तिमें नागरिकोंको अपनी सारी शक्ति खर्च करनी चाहिए । बुद्धिमान्, दूरदर्शी राजनीतिनिष्णात व्यक्तियोंका धर्म राष्ट्रका शासन करना और वीर क्षत्रियोंका धर्म राष्ट्रका संरक्षण करना है । धनार्जनमें लगे हुए पुरुषोंको उपरिलिखित दोनों श्रेणियोंकी अधीनतामें काम करना चाहिए । सारांश यह है कि राष्ट्र शरीरीके प्रत्येक अंगको अपनी अपनी योग्यता

* 'राष्ट्रीय सिद्धान्त' प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार कृत ।

तथा शक्तिके अनुसार राष्ट्रकी सेवा करनी चाहिए। इसी-में नागरिकोंकी तथा राष्ट्रों की अन्तिम भलाई है।

अफ़लातूनके सदृश ही अरस्तू भी नागरिकोंका अन्तिम उद्देश्य 'राष्ट्रकी पूर्णता' ही समझता था।

अरस्तू। उसने ही सबसे पहले पहल यह सत्य प्रगट किया कि मनुष्य'एक राष्ट्रीय जीव है। राष्ट्र मनुष्यों द्वारा ही बना है। यह होते हुए भी राष्ट्र एक स्वतन्त्र शरीरी हैं। राष्ट्र मनुष्योंके स्वार्थका साधन नहीं है। उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करना ही राष्ट्रका मुख्य उद्देश्य है। इन विचारोंका यह परिणाम हुआ कि यूनानी राष्ट्रोंकी शक्ति अपरिमित सीमातक पहुच गयी। नागरिकोंका अस्तित्व राष्ट्रके सम्मुख कुछ भी न था। यूनान-में संपूर्ण नागरिक अपने आपको राष्ट्रका अंग समझते थे और राष्ट्रके लिए जीवनको न्यौछावर करना अपना परम कर्तव्य समझते थे। एथीनियन लोगोंमें विद्या-विचार सम्बन्धी पर्याप्त स्वतन्त्रता थी, परन्तु यह भी इसीलिए कि वे इसको अत्युत्तम समझते थे। इस प्रकारकी स्वतन्त्रतामें मनुष्यका कोई अधिकार है यह वे न मानते थे। यही कारण है कि महर्षि सुकरातको उन्होंने विष पिलाया और अन्ततक इस भयंकर कामको अनुचित तथा अन्यायपूर्ण न समझा। सारांश यह है कि यूनानी लोग राष्ट्रकी शक्ति अपरिमित समझते थे। सदाचार तथा विचार भी उसकी शक्तिका परिमित न कर सकते थे। राष्ट्रका यह अधिकार था कि वह नागरिकोंको जहां चाहे तहां लगावे और जो काम चाहे वह काम उनसे ले। राष्ट्रकी इस स्वेच्छापूर्ण अपरिमित

शक्तिका दुरुपयोग केवल इस लिए रुका हुआ था कि राष्ट्रीय प्रभुत्व शक्तिका प्रयोग एक मात्र नागरिकोंके ही हाथमें था। और विषय भी इतने थोड़े थे कि राष्ट्रीय स्वेच्छाचार अपना भयंकर रूप दिखलानेमें सर्वथा असमर्थ था †।

४२. *रोममें राष्ट्रीय विचार ।*

यूनानी राजनीतिक विचारोंका रोमन-वासियोंपर प्रभाव ।

नियम तथा राजनीतिमें रोमके लोग प्राक्कालीन संपूर्ण जातियोंसे बढ़ गये। राजनीतिको कार्य रूपमें लानेमें भी वेही सबसे पहले समर्थ हुए। यही कारण है कि रोमके लोगोंका संसारपर यूनानियोंसे बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ा। शुरू शुरूमें रोमके लोग राष्ट्रीय विचारोंमें यूनानियोंके ही पीछे चलते थे। सिसरोने राजनीतिपर लिखते समय यूनानियोंको ही अपना आदर्श बनाया था। रोमके न्यायाधीश तथा स्मृतिकार भी यूनानी दार्शनिकोंके ही अनुगामी थे। सिसरोकी सम्मतिमें 'राष्ट्र' हो एक ऐसा सात्मिक चेतन शरीरी है जिसके बनानेमें मनुष्य समाज ईश्वरके कुछ कुछ समीप पहुंच गया है।

राष्ट्रीय विचारमें रोमवासियोंका यूनानियोंसे तीन बातोंमें भेद ।

सिसरोने राष्ट्रकी सात्मिकताको स्थान स्थानपर पुष्ट किया है। यह होते हुए भी रोमके वासी राष्ट्रीय विचारमें यूनानियोंसे बहुत आगे बढ़ गये। निम्नलिखित तीन बातोंमें रोमवासियोंके विचार यूनानियोंसे सर्वथा भिन्न थे।

† राष्ट्रीय सिद्धान्त प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार कृत ।

(क) सदाचारसे राज्यनियमका पृथक् करना—रोमवासियोंने राज्यनियमोंसे सदाचारके नियमोंको पृथक् किया । उन्होंने राज्य नियमोंको एक पृथक् रूप देकरके राष्ट्रका राजनीतिक स्वरूप अति स्पष्ट कर दिया और साथ ही राष्ट्रकी शक्ति भी घटायी । देशप्रथा, सदाचार तथा धर्मसे राज्यनियमोंको जुदा करते हुए रोमवासियोंने वैयक्तिक तथा पारिवारिक स्वतन्त्रताके बढ़ानेमें बहुत अधिक भाग लिया । यह सब करते हुए भी उन्होंने यूनानियोंके सदृश ही नागरिकोंका अन्तिम उद्देश्य राष्ट्रकी पूर्णता ही प्रगट किया । देवपूजामें भी उन्होंने ऐसे ही भाव जोड़े । राष्ट्रकी इच्छा तथा शक्तिका प्रतिरोध करना किसी भी नागरिककी सामर्थ्यमें न था । यदि रोमन राष्ट्रकी शक्ति तथा कार्यक्षेत्र परिमित था तो उसका कारण वह स्वयं ही था । इसमें किसी भी नागरिककी इच्छा या अधिकार कारण न था ।

(ख) जातीयताका विचार—रोमवासियोंने ही सबसे पहले पहल राष्ट्रका सम्बन्ध जनसमाजसे प्रगट किया । जातीयताका आविष्कार यूरोपमें उन्होंने ही किया । उन्होंने ही यह स्पष्ट उद्घोषित किया कि 'जनसमाज ही राष्ट्र है और उसकी इच्छा ही संपूर्ण राज्यनियमोंका स्रोत है ।, इस प्रकार रोमवासियोंने नागरिक राष्ट्रके स्थानपर जातीय राष्ट्रको जन्म दिया और यूनानियोंसे राजनीतिमें कुछ कदम आगे बढ़ गये ।

(ग) सार्वभौम राष्ट्र—रोमवासियोंने ही सबसे पहले पहल नागरिक नियमोंके साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय नियमोंका निर्माण किया । रोमको राजधानी बनाकर एक सार्वभौमराष्ट्रकी स्थापनाके लिए वे लोग प्रवृत्त हुए । परन्तु यूना-

नियोमें यह बात न थी। उनके राष्ट्र नगरसे ही सम्बद्ध थे। उनको सार्वभौम राष्ट्र निर्माणका ज्ञान ना था। रोमवासियोंसे बहुत पूर्व ही भारतमें राष्ट्रीय विचारका उदय हो चुका था। सार्वभौम राष्ट्र निर्माणमें राजाओंको किस प्रकार अश्वमेध यज्ञ द्वारा प्रोत्साहित किया जाता था, यह किसी भी भारतीय ऐतिहासिकसे छिपा नहीं है।

§ ४३. *ईसाई मतका राष्ट्रीय विचारोंपर प्रभाव।*

प्राचीन कालमें चर्चका राष्ट्रसे सम्बन्ध।

ईसाई मतने रोमन साम्राज्य तथा यहूदी राष्ट्रके प्रभुत्वको न माना। ईसा तथा ईसाके बहुतसे अनुयायियोंको इसीलिए शूलीपर चढ़ना पड़ा। राजनीतिक संगठन तथा राजनीतिमें ईसाइयोंकी बहुत रुचि न थी। धार्मिक संगठन तथा धर्मको ही वे सब कुछ समझते थे। ग्रीस तथा रोमन राष्ट्रोंके साथ ईसाइयोंका जब झगड़ा निपटा, उस समय चर्च अपना एक पृथक् नवीन रूप प्रगट कर चुका था। इन्होंने ही राजनीतिसे पृथक् धर्मका अस्तित्व स्थापित किया। राष्ट्रकी शक्तिका इससे कम हो जाना स्वाभाविक ही था।

धीरे धीरे ईसाइयोंने साधारण राजाओंका प्रभुत्व पादरियोंपरसे हटाकरके पोपका प्रभुत्व स्थापित किया। यूरोपीय ईसाइयोंकी धार्मिक राजधानी रोम नगर बना और वहां ही पोप रहने लगा। रोमका राजनीतिक साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और धार्मिक साम्राज्य पुनः संगठित हुआ। रोमके साम्राज्यका राजनीति तथा एक राज्य-

नियम आधार न बन कर धर्म्म आधार बना। राष्ट्रकी शक्तियोंका विकास नागरिकोंसे न माना जा कर ईश्वरसे माना गया। राजा तथा पोपने स्वेच्छाचार प्राप्त किया और अपने आपको ईश्वरका प्रतिनिधि कहना शुरू किया।

§४४. *ट्यूटन लोगोंका राष्ट्रीय विचारोंपर प्रभाव।*

ट्यूटन लोगोंने रोमन साम्राज्यको नष्ट किया। उन्होंने रोमके भिन्न भिन्न प्रान्तोंको एक एक करके जीतना शुरू किया। कभी कभी तो विपत्तिमें पड़ कर रोमन सम्राटोंने ट्यूटन लोगोंके राजाओंसे स्वयं सहायता ली। मध्यकालमें यूरोपके अन्दर ट्यूटनलोगोंकी ही सब ओर डुगडुगी पिटने लगी। ट्यूटनोंका स्वभाव रोमनोंसे सर्वथा भिन्न था। उन्होंने रोमन राष्ट्रकी अपरिमित शक्तिको चूर चूर कर दिया और वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रतिनिधितन्त्र शासनपद्धतिकी नींव यूरोपमें डाली। मान्टस्क्यूने ठीक कहा है कि "यूरोपीय प्रतिनिधितन्त्र शासनपद्धतिका बीज जर्मनीके जंगलोंमें ढूंढा जा सकता है।" टाइटिसने यह बहुत अच्छी तरहसे प्रगट किया है कि किस प्रकार जर्मनराजा जनसभा तथा जनसमितिसे सलाह ले कर संपूर्ण काम करते थे। ट्यूटन लोग वैयक्तिक स्वतन्त्रताके प्रेमी थे। इसी स्वतन्त्रताकी रक्षामें वे सारे संसारसे लड़नेके लिए तैयार रहते थे, अपने राज्यका तो कहना ही क्या है। राष्ट्र ही सब कुछ है, राष्ट्रकी शक्तिके सम्मुख सिर झुकाना नागरिकोंका परम कर्त्तव्य है—इत्यादि विचारोंको वे घृणाकी दृष्टिसे देखते थे।

इसी स्वभावका यह परिणाम था कि ट्यूटन वैयक्तिक अधिकारोंको सुरक्षित रखनेमें रोमनोंसे बहुत अधिक तैयार रहते थे। यही कारण है कि मध्यकालमें व्यक्ति, परिवार, सभा-समितियोंको पूर्वापेक्षा बहुत ही अधिक स्वतन्त्रता मिल गयी। चर्च तथा व्यक्तियोंके अधिकारोंकी (?) सभासे राष्ट्रके अधिकार बहुत कम हो गये।

ट्यूटन लोग जातीय कार्य्योंमें भी राष्ट्रकी शक्तिको निरंकुश न मानते थे। सम्राट्का दैवीरूप उनके लिए तुच्छ वस्तु था। सम्राट्की आज्ञापर चलनेसे पूर्व वे अपनी सम्मति तथा इच्छाको प्रगट कर देना आवश्यक समझते थे। राष्ट्रशरीरीकी कल्पना उनके लिए स्वप्न तुल्य थी। उनका यह विश्वास था कि कोई भी राजा राज्य-नियम नहीं बना सकता है जबतक कि वह उनसे सलाह न ले ले। राष्ट्रीय शक्तियोंका स्रोत वे व्यक्तियोंको ही समझते थे। यही कारण था कि राष्ट्रीय शक्तिको उन्होंने भिन्न भिन्न नागरिकों तथा नागरिक संघोंमें विभक्त कर दिया था। प्रत्येक नागरिक तथा नागरिक संघ एक दूसरेकी शक्तिको निरंकुश होनेसे रोकता था। इससे उनमें संगठनके शिथिल होते हुए भी नागरिकोंकी स्वतन्त्रता पूर्ण रूपसे सुरक्षित रहती थी और उसको किसी प्रकारका भी धक्का न पहुंचता था।

ट्यूटनोंका अपना राजनीतिक साहित्य न था। मध्यकालमें चर्चका ही राजनीतिक साहित्यमें एकाधिकार था। समय पड़नेपर यह लोग रोमन स्मृतिकारों तथा यूनानी दार्शनिकोंके विचारोंसे सहायता प्राप्त करते थे। राष्ट्रके

सारिमक वादकी ओर लोगोंका कुछ भी ध्यान न था। यही कारण है कि राष्ट्र सम्बन्धी विचार पूर्ववत् उन्नत न रहे।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके बढ़नेके साथ साथ व्यक्तियोंके राजनीतिक अधिकार भी बढ़ गये। प्रान्तोंपर भिन्न भिन्न व्यक्तियोंका वंशागत स्वत्व स्थापित हो गया। राष्ट्रीय कार्य्योंको करना भार समझा जाने लगा। फ्यूडल लार्डोंके समुत्थानसे यूरोपकी रोमके आधिपत्यमें पूर्ववत् राजनीतिक एकता न रही। भिन्न भिन्न यूरोपीय राष्ट्रोंका रोमके साथ एक प्रकारका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसमें सन्देह भी नहीं है कि पोपकी स्थितिसे यूरोपकी धार्मिक एकता नष्ट न होने पायी। रोम यूरोपकी राजनीतिक राजधानी न रहते हुए भी चिरकाल तक धार्मिक राजधानी बना रहा।

§४५. *विद्या-वृद्धिका राष्ट्रीय विचारोंपर प्रभाव।*

ट्यूटन लोगोंने रोमन साम्राज्यको चूर चूर करके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें विभक्त कर दिया। इससे रोमका महत्व बहुत कम न हुआ, क्योंकि पोपके रोममें रहनेसे रोम यूरोपका धार्मिक राजधानी बन गया। राष्ट्रोंकी प्राचीन शासनपद्धतियोंपर विचार पूर्ववत् होता रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि ट्यूटन लोगोंने रोमके साम्राज्यको छिन्न भिन्न करनेके अनन्तर रोमकी सभ्यताको ग्रहण कर लिया। फ्रान्सके सम्राट् चार्लस दि ग्रेट और जर्मनीके सम्राट् ओटो दि ग्रेट् कान्स्टैन्टाइन क्लाडियस तथा

आन्टोनियस आदिके उत्तराधिकारी ही माने जाते थे। रोमन साम्राज्य तथा रोमन सम्राट्का महत्व यूरोपीय राजाओंके हृदयमें चिरक ल तक बना रहा और वे लोग इस पदको प्राप्त करना अपना परम सौभाग्य समझते थे।

बारहवीं सदीसे पन्द्रहवीं सदीतक रोमन राज्यनियम बहुत अंशोंमें प्रामाणिक समझा जाते रहे। समय पड़नेपर भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके स्मृतिकारोंको उन्हींका सहारा लेना पड़ता था। इटलीसे पढ़करके आनेमें यूरोपीय लोग अपना गौरव समझते थे। रोम नगरके प्राचीन प्रतिनिधितन्त्र राज्यके वर्णनोंको पढ़ कर भिन्न भिन्न यूरोपीय नगरोंके लोग अपने नगरमें भी रोम सदृश प्रतिनिधितन्त्र राज्य स्थापित करनेके लिए उत्सुक रहते थे। मध्यकालमें कई बार रोमके नागरिकोंने रोममें प्रतिनिधितन्त्र राज्य स्थापित करना चाहा परन्तु सफल न हो सके। यूनानके प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तूकी राजनीति विषयक पुस्तकें ईसाई मतों तथा विचारोंके विद्वान् लोग पढ़ा करते थे। थोमास आव् अक्विनोने तो इसपर एक टिप्पणी भी की थी।

यह सब होते हुए भी यूरोपकी दशा पूर्वापेक्षा बहुत बदल गयी। प्राचीन संस्थाओं तथा सभ्यताओंपर ट्यूटन लोगोंने अपनी छाप पूरी तरहसे डाली। पन्द्रहवीं सदीके बीचमें ही यूरोपमें जागृति प्रारम्भ हुई। प्राचीन शिल्प-चित्रण, विद्या तथा विज्ञानका पुनरुद्धार हुआ। जीवनको भार न समझ कर सुख तथा समृद्धि प्राप्त करनेके लिए यत्न किया गया। मनुष्य जीवनका महत्व यूरोपीय

लोगोंकी आंखोंके सामने नाचने लगा। पोपोंतकके विचारोंमें परिवर्तन आगया। निकोलस पंचम (संवत् १५०४ १५१२-सन् १४४७-५५) पायस द्वितीय (संवत् १५१५-१५२१ सन् १४५८-१४६४) जूलियस द्वितीय (संवत् १५६०-१५७० सन् १५०३-१५१३) लीयों दशम (संवत् १५७०-१५७८ सन् १५१३-१५२१) आदियोंने शिल्पियों तथा चित्रकारोंको पूर्ण स्वतंत्रता दी। राष्ट्रसम्बन्धी प्राचीन विचारोंनेभी अपना रूप प्रकट किया और समाजको निम्नलिखित प्रकारसे प्रभावित करना शुरू किया।

(१) बहुतसे साहसी योग्य योग्य विचारकोंने राष्ट्रको मनुष्य निर्मित प्रगट कर उसके विकासका पता लगाना शुरू किया और राष्ट्रके दैवी सिद्धान्तका सर्वथा ही परित्याग कर दिया। (दैवी सिद्धान्तका परित्याग)

(२) राज्यों तथा राष्ट्रोंको किधर जाना चाहिए? उनकी क्या नीति तथा क्या आदर्श हो? इत्यादि प्रश्नोंपर गम्भीर तौरपर विचार किया गया। मैकिया वलीने ही सबसे पहले पहल इन प्रश्नोंको हल करनेका यत्न किया। (राजनीतिक समस्याए सरल की गयीं।)

(३) प्रभुत्व शक्ति सिद्धान्तका विकास भी इसी समय हुआ। छोटे छोटे राजाओंने स्वेच्छाचारीका रूप धारण किया और रोमन सम्राट् बनना अपना आदर्श बनाया। (राजनीतिक प्रभुत्वका प्रारम्भ)

(४) राजाओंके स्वेच्छाचारके साथ ही साथ योरूपीय जनतामें राजनीतिक जागृति प्रारम्भ हुई। लोकतन्त्रशासन-

पद्धति आदर्श शासन पद्धति समझी जाने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे साराका सारा यूरोप एक तन्त्रराज्यपद्धतिसे लोकतन्त्र शासन पद्धतिकी ओर झुक पड़ा।

यूरोपमें जब विद्या-वृद्धि शुरू हुई, साधारण जनता पूर्ववत् ही अज्ञानान्धकारमें लीन थी। कुछ एक इने गिने पढ़े लिखे लोग ही राजनीति तथा राजनीतिक सिद्धान्तों-को समझते थे। यही कारण है कि विद्या-वृद्धिका शुरू शुरू में सारी जनतापर बहुत अधिक प्रभाव न पड़ा। इसमें सन्देह भी नहीं है। वर्तमान यूरोपकी जागृति तथा सारी जनतामें राजनीतिक जीवनका आना बहुत कुछ उसी समयसे सम्बद्ध है। जो बीज उस समय बोया गया उसीका यह फल है।

§४६. *वर्तमान कालका प्रारम्भ।*

वर्तमान काल किस समयसे प्रारम्भ होता है इसपर संवत् १७६८ से १८४६ यूरोपीय राजनीतिज्ञोंमें बड़ा मत-भेद है। बहुतोंका विचार है कि वर्तमान काल संवत् १६६७ (सन् १६४०) तथा संवत् १७२५ (सन् १६६८) की आंग्ल राज्यक्रान्तिसे शुरू होता है। परन्तु आज कल प्रायः संवत् १७६७ से १८४६ (सन् १७४० से १७८६) तकके समयके बीचमें ही वर्तमान कालका प्रारम्भ माना जाता है। यही समय है जिसमें कि

(सन् १७४० से १७८६) तक के समयका महत्व।

प्रशियन साम्राज्यकी वृद्धि शुरू होती है, आष्ट्रियामें ओजफ़

द्वितीय सुधारोंको करता है, उत्तरीय अमेरिका महाद्वीपमें संयुक्त प्रान्त स्वतन्त्र होता है, फ्रान्समें राज्यक्रान्ति होती है नेपोलियन फरांसीसी साम्राज्यको बढ़ाता है, भारतमें आंग्लोंका प्रभुत्व स्थापित होता है। चर्चका प्रभुत्व भी यूरोपमें इसी समयसे कम हो जाता है। स्वतन्त्रता, समानता तथा जातीयताकी ओर इसी समयसे पग बढ़ाना शुरू होता है।

इन उपरि लिखित परिवर्त्तनोंका राष्ट्रीय विचारोंपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। राजनीतिने विशेष महत्व प्राप्त किया। नये नये राजनीतिक सिद्धान्त निकाले गये। जन-समाजने राष्ट्रीय विचारोंको विशेष तौरपर उन्नत किया।

§४७. *वर्त्तमान तथा प्राचीन राजनीतिकविचारोंमें भेद।*

परिवर्तन जाननेका मुख्य तरीका यही है कि वर्त्तमान तथा प्राचीन राजनीतिक विचारोंकी परस्पर तुलना की जाय। क्योंकि ऐसा करनेसे भेद स्पष्ट तौरपर झलकने लगता है।

प्राचीन राष्ट्रीय विचार।	वर्त्तमान राष्ट्रीय विचार।
(क) प्राचीन कालमें राष्ट्रके सम्मुख व्यक्ति कोई वस्तु न थी। यही कारण है कि उस समय वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं मानी जाती थी। प्रत्येक प्राचीन राष्ट्रमें आधेसे अधिक दास थे। स्वतन्त्र पुरुषोंकी कमी थी। कृषि-व्यवसाय, तथा पशु-पालनका काम दासोंसे करवाया जाता	(क) आजकल प्रत्येक व्यक्तिका अधिकार राजनीतिमें माना व्यक्तिगत जाता है। वैयक्तिक स्व-अधिकार तन्त्रताको प्रत्येक राष्ट्र मानता है। दासता पाप समझी जाती है और उसका प्रचार भी सभी सभ्य देशोंसे हट गया है। असामी लोग भी पूर्वापेक्षा बहुत ही

प्राचीन राष्ट्रीय विचार

था। बहुत बार व्यापारका काम भी उन्हीसे लिया जाता था। श्रमका कुछ भी मूल्य नहीं समझा जाता था। श्रमीका राष्ट्र तथा राजनीतिमें कोई भाग न था। भूमिपर उनका स्वत्व न था। मनुष्योंके साधारणसे साधारण अधिकार भी उनको न प्राप्त थे। राजनियमोंके स्थानपर देश-प्रथा ही उनकी रक्षा करती थी। समय समयपर उन्होंने उठनेका यत्न किया तथा विद्रोह किया। वे बुरी तरह से दबाये गये और उठनेसे रोके गये। उनके साथ अमानुषिक अत्याचार किये गये।

(ख) नागरिकोंके प्रत्येक कार्य्योंमें राष्ट्रका हस्तक्षेप था। विद्या, विज्ञान, शिल्प, धर्म्म तथा सदाचार आदिमें राष्ट्रका प्रभुत्व पूर्ण रूपसे था। पुरोहितका पद एक राजनीतिक संस्था था। प्राचीन राष्ट्रोंके सम्मुख व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कोई वस्तु न थी।

वर्त्तमान राष्ट्रीय विचार

अधिक स्वतन्त्र हो गये हैं। मनुष्योंका मनुष्योंपरसे स्वत्व हट गया है। श्रम अच्छा समझा जाता है। श्रमियोंको पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वे जहां चाहें जावें और जहां चाहें काम करें। नौकर तथा मज़दूर तक वोट देते हैं। दासोंका विद्रोह अब स्वप्न तुल्य हो गया है। राष्ट्रका सम्बन्ध प्रत्येक मनुष्यसे एक सदृश माना जाता है। प्रत्येक मनुष्य राष्ट्रका अंग है।

(ख) आजकल राष्ट्रके अधिकार अपरिमित नहीं माना जाता है। राष्ट्र एक राजनैतिक संस्था है। धर्म्म तथा पूजापाठमें व्यक्तियोंको पूर्ण स्वतन्त्रता है। पुरोहितका पद एक राजनीतिक संस्था नहीं है। विद्या-विज्ञानमें भी राज्यका हस्तक्षेप परिमित है। राज्य अपने आपको इन बातोंमें प्रामाणिक नहीं समझता है।

प्राचीन राष्ट्रीय विचार

ग प्राचीन राष्ट्रमें नागरिक ही स्वतन्त्र पुरुष गिने जाते थे। व्यक्तिगत नियमों तथा राष्ट्रीय नियमोंमें अभी भेद स्थापित न हुआ था। रोमनलोगों-ने इसमें यत्न किया परन्तु पूरी तौरपर सफल न हुए। रोमनकालमें व्यक्तियों-को पूर्ण स्वततन्त्रता न मिली।

(घ) प्राचीनकालमें राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति अपरिमित था।

(ङ) प्राचीन कालमें प्रत्यक्ष लोकतन्त्रराज्य था। प्रतिनिधि-निर्वाचनकी कोई सस्था न थी। सपूर्ण राष्ट्रीय कार्मोंमें नागरिक स्वय उपस्थित होते थे। मुख्य मुख्य राष्ट्रीय प्रश्नोंको वह स्वय ही हल करते थे।

(च) यूनानी राष्ट्र एकमात्र नागरिक राष्ट्र थे। रोमने सबसे पहले पहल सार्वभौम राष्ट्र बनने-का यत्न किया।

(छ) प्राचीन कालमें शक्तिस-विभाग न था। एक ही राष्ट्रीय सस्था

वर्तमान राष्ट्रीय विचार

(ग) प्रत्येक मनुष्यको आज-कल स्वतन्त्रता है। व्यक्तिगत नियमों तथा राष्ट्रीय नियमोंमें भी अब भेद स्थापित हो गया। आजकल व्यक्ति-योंको अपनी उन्नति करनेमें पूर्ण स्वतन्त्रता है। राज्यका हस्तक्षेप बहुत कम है।

(घ) आजकल राष्ट्रकी प्रभु-त्वशक्ति शासनपद्धतिकी धाराओंके द्वारा परिमित की गयी है।

(ङ) आजकल प्रतिनिधितन्त्र राज्य है। प्रतिनिधियोंसे ही पूर्ण राष्ट्रीय काम किये जाते हैं। प्रतिनिधि निर्वाचनका बहुत ही अधिक महत्व है। राज्य नियम आदि बनाना और आय व्ययका पास करना प्रतिनिधि-योंका ही काम है।

(च) वर्त्तमान कालके राष्ट्र जातीय राष्ट्र है। नगर राष्ट्रका एक अग है। नागरिक राष्ट्रोंका अब सर्वथा अभाव है।

(छ) आजकल शक्तिसविभा-गके अनुसार काम होता है। भिन्न

प्राचीन राष्ट्रीय विचार ।	वर्त्तमान राष्ट्रीय विचार
भिन्न भिन्न समयोंमें शासक, नियामक तथा निर्णायक शक्ति को काममें लाती थी ।	भिन्न राष्ट्रीय संस्थाएँ भिन्न भिन्न शक्तियोंको काममें लाती हैं । शासक शक्ति जिस संस्थाके पास है उसीके पास निर्णायक तथा नियामक शक्ति नहीं है । आजकल तीनों ही शक्तियों-का एक ही संस्थाके हाथमें देना अत्या-चारका दूसरा रूप समझा जाता है ।
(ज) अन्तर्राष्ट्रीय नियमोंकी सत्ता न थी । एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर हर समय आक्रमण कर सकता था । रोमने अपना साम्राज्य इसी प्रकार खड़ा किया । सिकन्दरने दूसरे राष्ट्रों-पर चढ़ाई भी इसी लिए की ।*	(ज) आजकल अन्तर्राष्ट्रीय नियमोंका महत्व बहुत ज्यादा है । भिन्न भिन्न राष्ट्रोंको अन्तर्राष्ट्रीय नियम ही बचा रहे हैं । राष्ट्रोंकी स्वतन्त्रताको सब लोग मानते हैं । किसी एक राष्ट्रका सब राष्ट्रोंपर राज्य दासताका चिन्ह समझा जाता है ।— *

§ ४८ *वर्त्तमान तथा मध्यकालीन राष्ट्रीय विचारोंमें भेद ।*

वर्त्तमान तथा मध्यकालीन राष्ट्रीय विचारोंमें बड़ा भेद है । रोमन कालके बाद यूरोपीय राष्ट्रोंका उदय हुआ । विद्या प्रचारका क्षेत्र पूर्वापेक्षा बढ़ गया । आज कल तो रेल तारसे सारा संसार संघटित हो गया है । राष्ट्रीय विचारोंपर इन परिवर्त्तनोंका बहुत प्रभाव पड़ा है । दृष्टान्त स्वरूप—

* The theory of the State by Bluntchli (Third edition) BookI. ch. VI. PP. 54–60.

मध्यकालीन राष्ट्रीय विचार | वर्त्तमान राष्ट्रीय विचार

राष्ट्रका ईश्वरसे उद्भव ।

(क) मध्यकालमें राष्ट तथा राष्ट्रीय प्रभुत्व-शक्तिका विकास ईश्वरसे माना जाता था। ईश्वर ही राष्ट तथा राष्ट्रीय प्रभुत्व-शक्तिका निर्माता समझा जाता था।

(क) आजकल राष्ट्र मनुष्योंकी संस्था माना जाता है। मानुषिक उद्देश्यको पूरा करनेके लिए और मनुष्योंकी सुखै-समृद्धिके लिए ही राष्ट्र बना है।

धर्म्मका राष्ट्रमें भाग ।

(ख) इस्लाम और इसाई धर्म्मोंका प्रभुत्व-शक्तिमें बड़ा भारी भाग था। इस्लाम धर्म्ममें ईश्वर ही सामाज्य माना गया है। सुल्तान तो ईश्वरका प्रतिनिधि है। मध्यकालमें चर्च तथा राष्ट्रका एक ही सदृश यूरोपमें प्रभुत्व था। दोनों ही अपनी शक्तिका उद्भव ईश्वरसे मानते थे। इसके बाद जब प्रोटेस्टैन्ट लोगोंका जोर हुआ तब उन्होंने चर्चकी प्रभुत्व-शक्तिको न माना। एकमात्र राष्ट्रकी प्रभुत्व-शक्तिको ही उचित ठहराया। परन्तु उसका उद्भव ईश्वरसे ही प्रगट किया।

(ख) आजकल राष्ट्रीय सिद्धान्तोंका आधार दर्शनशास्त्र तथा इतिहास ही है। मनुष्यसे ही राष्ट्र तथा राष्ट्रीय प्रभुत्व शक्तिका उद्भव आजकल माना जाता है। कइलोगोंका विचार है कि राष्ट्र मनुष्योंके उस संगठनका नाम है जो मनुष्योंके स्वातन्त्र्य तथा सरक्षणके लिए उत्पन्न हुआ है। बहुतसे लोग राष्ट्रको जातिका एक उच्चरूप ही प्रकट करते हैं। आजकल धर्म्म तथा मतके साथ राष्ट्रका सबंध कोई भी नहीं मानता है। ईश्वर तथा ईश्वरीय सृष्टिके अद्भुत रहस्यको समझते हुए भी अर्वाचीन राजनीतिक राष्ट्रको एक मानुषिक संस्था ही समझते हैं।

मध्यकालीन राष्ट्रीय विचार	वर्तमान राष्ट्रीय विचार

देवतन्त्र राज्य।

(ग) मध्यकालमें अप्रत्यक्ष देवतन्त्र राज्य था। शासक ईश्वर-का अवतार नहीं समझा जाता था। वह ईश्वरका प्रतिनिधि माना जाता था

(ग) आजकल राष्ट्र मानुषिक संस्था समझा जाता है। ईश्वरका उसके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। शासकोंका कर्तव्य ईश्वरीय इच्छा पूरी करना नहीं है, अपितु, राष्ट्रके अगभूत व्यक्तियोंकी सुख-समृद्धि को बढ़ाना और स्वतन्त्रताको सुरक्षित रखना है।

धार्मिक स्वतन्त्रता

(घ) मध्यकालमें धर्म्मकी एकता पर राष्ट्रका दारोमदार समझा जाता था। इसीलिए राष्ट्र धर्म्मकी एकता-के लिए बहुत बल देता था। जो लोग राष्ट्रीय धर्म्मसे भिन्न धर्म्मका अवलम्बन करते थे उनको बड़ी बड़ी तकलीफें दी जाती थीं।

(घ) आजकल धर्मपर राष्ट्रका आधार नहीं है। राष्ट्रीय तथा वैय-क्तिक नियमोंका धर्मसे सम्बन्ध नहीं रहा है। धर्म्मके मामलेमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। जो चाहे जिस धर्म्मको ग्रहण करे राज्य कुछ भी चू-चां नहीं करता है।

चर्च

(ङ) मध्यकालमें राष्ट्रसे चर्चका महत्व अधिक था। पोप तथा पुरो-हितोंका दर्जा राजा तथा सामन्तोंसे ऊंचा था।

(ङ) आजकल राष्ट्र एक शरीरी माना जाता है। शासनपद्धति उसका शरीर और जाति उसकी आत्मा है। राष्ट्रके सदृश चर्चकी उच्च स्थिति नहीं मानी जाती है। पुरोहितोंको

मध्यकालीन राष्ट्रीय विचार	वर्त्तमान राष्ट्रीय विचार
	कुछ भी विशेष राजनीतिक अधिकार नहीं मिले हुए हैं। राष्ट्रके लिए प्रत्येक व्यक्ति समान है।

शिक्षा

(च) मध्यकालमें बालकोंकी शिक्षा चर्चोंके ही हाथमें थी। विद्या-विज्ञानमें चर्चके सिद्धान्त ही प्रामाणिक थे।	(च) आजकल धार्मिक शिक्षा देना ही एकमात्र चर्चका काम है। साधारण शिक्षा राष्ट्र तथा व्यक्तियोंके हाथमें है। विद्या-विज्ञानकी उन्नतिपर राष्ट्रका विशेष ध्यान है।

वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय नियम

(छ) मध्यकालमें वैयक्तिक नियमों तथा राष्ट्रीय नियमोंमें कुछ भी भेद न था। राजकीय शक्ति वशागत थी, ताल्लुकेदार ही सामन्त थे।	(छ) आजकल वैयक्तिक नियमों तथा राष्ट्रीय नियमोंमें भेद है। राजकीय शक्ति वशागत नहीं है। राष्ट्रीय कार्योंको करनेवाले ही राष्ट्रीय शक्ति तथा राष्ट्रीय अधिकारको काममें ला सकते हैं।

राष्ट्रीय शक्तिका विभाग

(ज) मध्यकालमें फ्युडल विधिसे राष्ट्रका शासन होता था। राष्ट्रीय प्रभुत्व-शक्ति ईश्वरसे लेकरके नागरिक पर्य्यन्त भिन्न भिन्न शासकोंमें विभक्त थी। ईश्वर अपनी शक्ति राजाको, राजा वह शक्ति सामन्त तथा अनुसामन्तोंको और वे	(ज) आजकल राष्ट्रोंकी शक्ति मध्यकालके सदृश बटी हुई नहीं है। राष्ट्रोंका आकार पूर्वापेक्षया बहुत ही अधिक बढ़ गया है। राज्य-नियमों का प्रयोग सम्पूर्ण नागरिकों-पर एक सदृश है। राष्ट्रकी प्रभुत्व-शक्ति बहुत ही अधिक व्यवस्थित है।

मध्यकालीन राष्ट्रीय विचार।	वर्तमान राष्ट्रीय विचार।
भी नागरिकों तथा गोपोंको सुपुर्द करते थे और इस प्रकार शासन-का काम होता था।	

प्रतिनिधि तन्त्र

(झ) मध्यकालमें प्रतिनिधि निर्वाचनमें ताल्लुकेदारोंका विशेष भाग था। ताल्लुकेदार तथा पादरी लोगोंको ही राजनीतिक अधिकार प्राप्त करनेका विशेष अवसर था। राज्य-नियम भिन्न भिन्न ताल्लुकोंमें भिन्न भिन्न था।	(झ) आजकल सम्पूर्ण नागरिकोंका प्रतिनिधि-निर्वाचनमें समान अधिकार है। मुख्य मुख्य दलोंके पास ही राष्ट्रायप्रभुत्व शक्ति रहती है। नागरिक होनेका अधिकार सबको मिला हुआ है। प्रतिनिधितन्त्र शासनपद्धति ही भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें प्रचलित है। राज्यनियम सम्पूर्ण ताल्लुकों तथा सम्पूर्ण नागरिकोंके लिये एक सदृश है।

समान स्वतन्त्रता

(ञ) ताल्लुकेदारोंके अधिकारोंकी रक्षा का जाती थी। राज्य उनके पक्षमें था। किसानोंको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त न थी।	(ञ) आजकल राष्ट्रका प्रभुत्व सब नागरिकोंपर एक सदृश है। किसीको भी विशेष अधिकार नहीं मिले हुए हैं।

राष्ट्रीय हस्तक्षेप

(ट) मध्यकालमें देश प्रथा तथा रीतिरिवाजकी प्रबलता थी। न्यायालय विभागकी शक्ति बहुत अधिक न थी। न्याय तथा निर्णयका अधिकार कुछ कुछ लोगोंको भी मिला	(ट) आजकल देशप्रथा तथा रीतिरिवाजका जोर कम है। शिक्षा तथा सम्पत्ति वृद्धिमें राष्ट्रका अधिक ध्यान है। राजनीतिकी बागडोर एकमात्र राष्ट्रके ही हाथमें

मध्यकालीन राष्ट्रीय विचार	वर्तमान राष्ट्रीय विचार
हुआ था। यही कारण है कि राज्य तथा शासन विभागकी शक्ति कम थी।	है। जाति तथा समाजके हितमें शासनका प्रयोग है।
(ठ) मध्यकालमें राष्ट्का विकास ऐतिहासिक था। प्राकृतिक परिस्थिति ही राष्ट्रीय परिवतनोका मुख्य कारण थी। राज्य-नियमोंका देशप्रथाके साथ घनिष्ट सम्बन्ध था।	(ठ) आजकल राष्टका विकास भिन्न भिन्न राजनीतिक सिद्धान्तोंसे सम्बद्ध है। राष्ट्रीय परिवतनोंमें बुद्धि तथा विचारोंका विशेष भाग है। देश प्रथाका महात्व कम हो गया है। राज्यनियम बनाना व्यवस्थापक सभाका काम है।

§४६. *राष्ट्रविषयक सिद्धान्तोंका उदय।*

राष्ट्रीय विचारों तथा राष्ट्रीय सिद्धान्तोंके संशोधनमें राजनीति शास्त्रका विशेष भाग है। यूरोपमें राजनीतिक परिवर्तनोंके पूर्व राजनीतिक सिद्धान्त ही प्रगट होते रहे हैं। परिवर्तनोंके आधारपर राष्ट्रीय सिद्धान्तोंका निर्माण बहुत कम स्थानोंमें हुआ है। मध्यकालमें प्राचीन राष्ट्रीय सिद्धान्तोंको नव्यरूप देनेका श्री गणेश सबसे पहले पहल मैकिआवली, बोदिन तथा ह्यू गो ग्रोटियसने ही किया।

मैकि-आवली — मैकि-आवली राष्ट्रको ब्रह्माकी अपूर्व उच्चतम सृष्टि समझता था। वह उसपर सब कुछ न्योछावर करनेके लिए तैयार था। राष्ट्रसे उसकी हार्दिक प्रीति थी। उसकी प्रीतिमें सत्य, धर्म तथा सदाचारको भी वह बलि चढ़ा देना अनुचित न समझता था। उसके लिए राष्ट्र ही मनुष्य जातिका आदर्श

है। उसीकी पूर्णतामें मनुष्य जातिकी पूर्णता है। राज्य-नियमोंका पृथक् कुछ भी अस्तित्व नहीं है। वे तो राष्ट्रको शक्ति तथा समृद्धि बढ़ानेके ही साधन हैं। मैकि-आवली राष्ट्रका स्वरूप धार्मिक या सदाचाराय न समझ करके एक मात्र राजनीतिक समझता था। यही कारण है कि उसने राजनीतिक कार्योंका आधार एकमात्र उपयोगिताको ही रखा। राष्ट्रकी शक्ति तथा प्रभुत्वशक्तिको स्थिर रखनेके लिए राजनीतिज्ञोंको प्रत्येक प्रकारका बुरा भला काम करना चाहिए। उनको ऐसी उच्चतम म मलोंमें छल तथा कपटसे न झिझकना चाहिये और सदाचार तथा धर्मकी परवाह न करनी चाहिए।

मैकि-आवलीके उपरि लिखित विचारोंका राजनीति शास्त्रकी उन्नतिमें बड़ा भाग है। उसोने धर्म तथा राज्यनियमोंमें भेद स्थापित किया और राजनीति शास्त्रका धर्म शास्त्रके हस्तक्षेपोंसे सुरक्षित किया। उसके विचारोंका यूरोपीय राजनीतिपर बुरा प्रभाव पड़ा। अत्याचार पूर्वापेक्षया बढ़ गये। राज्योंको शक्ति अपरिमित हो गयी।

बोदिन — बोदिन राष्ट्रको एक बड़ा परिवार समझता था। कुलपतिके सदृश ही राजाकी प्रभुत्व-शक्तिको यह आवश्यक तथा स्वाभाविक समझता था। इससे राज्योंके स्वेच्छाचार बढ़े।

ह्यूगो ग्रोटियस — ह्यूगो ग्रोटियसने मैकि-आवली तथा बोदिनका अनुकरण न करके सिसरोका ही अनुकरण किया। प्राचीन राजनीतिज्ञोंके सदृश ही उसने राष्ट्रका मानुषिक स्वरूप प्रगट किया। यह होते हुए भी उसने राष्ट्रका आधार मनुष्य समाजपर न रख कर

व्यक्तिपर ही रखा। उसका कथन है कि राष्ट्र स्वतन्त्र पुरुषोंका एक पूर्ण संगठन है जो कि राज्य-नियमोंके बनाने और राष्ट्रीय समृद्धिको बढ़ानेके लिए बना है। राज्यनियमोंका बनाना उसके विचारमें मनुष्योंकी सम्मतिपर निर्भर है। इसी विचारको सामने रख कर अगले राजनीतिज्ञोंने सामाजिकप्रण सिद्धान्तको जन्म दिया।

प्राकृतिक नियम,सामाजिक प्रण तथा संमिलन।

वर्तमान कालिक राजनीतिज्ञोंने राष्ट्रीय विचारोंका आधार शुरू शुरूमें प्राकृतिक नियमको ही माना। किसीने राष्ट्रका उदय सामाजिक प्रणसे और किसीने संमिलनसे प्रगट किया। रूसोने राष्ट्रको मनुष्योंकी बहुसम्मति तथा सामाजिक प्रणका परिणाम प्रगट करते हुए राष्ट्रकी स्थितिको ही विवादास्पद बना दिया। यदि राष्ट्र एक प्रकारका सामाजिक प्रण हो तो उसका अस्तित्व ही क्या रहा? क्यों न राष्ट्र भी सामाजिक प्रण होनेसे साधारण प्रणोंकी तरह जरूरतके अनुसार बदलता रहे? रूसोके सदृश ही हाब्जके विचार हैं। सेम्युल पुफ्नडार्फ, जोन्दलाक, कान्ट तथा फिश् आदि राजनीतिज्ञ सामाजिक प्रणसिद्धान्तमें किसी न किसी हदतक बह ही गये। सत्य है, मनुष्य अपनी परिस्थितिका पुत्र है। यदि प्राचीन राजनीतिज्ञोंने राष्ट्रके पूर्ण स्वरूपके सम्मुख व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको सर्वथा ही भुला दिया तो नव्यराजनीतिज्ञोंने प्राकृतिक नियमके फेरमें पड़कर राष्ट्रको सामाजिक प्रण बताते हुए वैयक्तिक स्वतन्त्रतापर राष्ट्रकी पवित्र मूर्तिको बलि चढ़ा दिया। परन्तु दोनों ही सत्य पथसे भटक गये।

राज्य तथा राष्ट्रका पारस्परिक सम्बन्ध ।

आज कल विचारकोंने प्राकृतिक नियम सिद्धान्त (the theory of natural law) के मर्मको समझ लिया है। संवत् १९६७,सन् १९४०) से पूर्वतक राज्य स्वेच्छाचारी थे। यही कारण है कि उन दिनों शक्तिसिद्धान्त (the theory of force) ही विशेष तौरपर मुख्य रहा। उन दिनोंमें लोगोंका विश्वास था कि राज्यको शासनका काम ईश्वरने सुपुर्द किया है। कभी कभी वे लोग यह भी समझ बैठते थे कि राजा ही सारे देशका मालिक है। समय आया जब कि इस प्रकारके अन्धविश्वास दूर होगये। राज्यों-को भी जनताके हित तथा जनताके नियमोंके अनुसार काम करनेके लिए बाधित होना पड़ा। कान्ट तथा विल्हल्मवान हम्बोल्टने यह बातकी उद्घोषित की कि राज्यका मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह राष्ट्रीय नियमोंका भंग न करे। जर्मनीको स्वतन्त्र करनेकी फ़िक्रमें फ़िचने राज्यकी अपेक्षा राष्ट्रको उत्कृष्ट प्रकट किया। परन्तु अन्य जर्मन दार्शनिकोंने उसका साथ न दिया। राज्यके अत्याचारों तथा स्वेच्छाचारपूर्ण व्यवहारोंसे बचनेके उद्देश्यसे लोगोंने ऐसे नये २ विचारोंको प्रकट किया जिनके अनुसार राज्य एक प्रकारकी शासन संस्था ही रह जाती थी और नियामक तथा निर्णायकशक्तिसे उसका सम्बन्ध कट जाता था। कुछ लोग ऐसे भी थे जो राज्यकी दिव्य प्रतिमाको चूर चूर करना उचित न समझते थे और शिक्षा, आर्थिक कार्य, व्यापार व्यवसाय, जातीयताकी उन्नतिमें राज्यका हस्तक्षेप नितान्त आवश्यक मानते थे। वस्तुतः राष्ट्रशरीरीके स्थिरता तथा

उन्नति दो धर्म्म हैं। इन्हींके अनुसार राज्यनियमविज्ञान [Public Law] तथा राजनीतिशास्त्र [Politics] दो शास्त्र हैं। न्याय तथा राष्ट्रहितमें जो पारस्परिक सम्बन्ध है वही सम्बन्ध इन दोनों शास्त्रों तथा दोनों धर्मोंमें है। यही इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि राज्यका मुख्य कर्त्तव्य राष्ट्रीय नियमोंके अनुसार चलते हुए राष्ट्रका हित करना है। रोमन लोगोंने इसी बातको समझकरके अपने प्रधान शासकोंका मुख्य कर्त्तव्य राष्ट्रका हित और न्यायाधीशोंका कर्त्तव्य राजनियमोंकी रक्षा प्रकट किया था।

आजकल ऐतिहासिक संप्रदायके लोगोंने राष्ट्रके सात्मिकवादको एक नया रूप दिया है। इनसे पूर्व भी बहुतसे लोग ऐसा अनुभव कर चुके थे। प्रुशियाके फ्रेडरिक् दि ग्रेटने स्पष्ट शब्दोंमें एक स्थानपर लिखा है कि जिस प्रकार मनुष्य उत्पन्न होता है, कुछ समय तक जीवित रहता है और फिर बीमारी या बुढ़ापेसे मृत्युको प्राप्त होता है, उसी प्रकार राष्ट्र प्रगट होते हैं, बढ़ते हैं और अन्तमें नष्ट हो जाते हैं। चिरकाल तक राजनीतिज्ञोंका सात्मिकवादकी ओर ध्यान न गया। यही कारण है कि सात्मिकवाद ऐतिहासिक संप्रदायका आविष्कार समझा जाता है। प्राकृतिक नियमके अन्धभक्तोंने 'राष्ट्रकी' कतरव्योंतको एक प्रकारका खिलवाड़ समझ लिया था और इसी लिए देरतक अपने उच्च पदपर स्थित न रह सके। ऐतिहासिक संप्रदायवालोंने इससे विपरीत राष्ट्रको देशरक्षा तथा वंशानुक्रम [hereditary] से इस प्रकार घनिष्ठ तौरपर जोड़ दिया कि राजनीतिज्ञोंकी दृष्टिमें वे सिद्धान्तके साथ साथ स्वयं भी गिर गये।

वर्त्तमान जर्मन राजनीतिज्ञोंने राजनीतिशास्त्रको बहुत ही अधिक उन्नत किया। महाशय हैगलने अपने राज्यनियम सिद्धान्त [the theory of Law] नामक ग्रन्थमें राष्ट्रोंके उदयपर विस्तृत तौरपर लिखा और अन्तमें वह इस विचारपर पहुंचा कि जो कुछ मौजूद है वह सबका सब अविवेकका परिणाम नहो कहा जा सकता है। यही कारण है कि उसने एकतन्त्र राज्यका पोषण किया और प्रतिनिधितन्त्र राज्यका विशेष तौरपर पक्ष न लिया। हैगल राष्ट्रका शरीरा तथा चेतन न समझता था। वह इसको सामाजिक इच्छाका प्रतिबिम्ब या परिणाम मानता था। फ्रेडरिक जे स्टाल [Fr je Stole] ने हैगलका विरोध किया और प्राकृतिक नियमवादियोंके विचारोंका भी पूरी तरहसे मर्दन किया इसने राजनीतिशास्त्रको कई कदम आगे बढ़ा दिया। आजकल इसके ग्रन्थोंका विशेष तौरपर मान नहीं ह, क्योंकि इसके ग्रन्थोंमें स्थान स्थानपर ईसाई धर्म्मकी छाप पड़ी है।

वर्त्तमान जर्मन राजनीतिज्ञोंका विचार।

सौभाग्यसे अब जर्मनीमें दार्शनिकों तथा राजनीतिज्ञोंका पूर्ववत् विरोध नहीं रहा। संवत् १८६७ (सन् १८४०) में ही इस विरोधका अन्त हो गया। तबसे आजकल विचारक लोग कल्पना तथा इतिहास दोनोंका ही राजनीतिमें सहारा लेने हैं। आजकल कई तरीकोंसे राजनीतिमें विचार किया जाता है। यह इस बातका चिन्ह है कि लोगोंका ज्ञान पूर्वापेक्षा बहुत ही अधिक विस्तृत हो गया है।

जर्मनीमें दार्शनिकों तथा ऐतिहासिक सम्प्रदायवादियोंका समिलन।

यूरोपमें जातीयताका भाव बहुतही अधिक बढ़गया है। राजनीतिज्ञोंके सम्मुख राष्ट्रका जातीय रूप ही विशेष तौरपर रहता है। इटली, फ्रांस, अमेरिका, इंग्लैण्ड, हालैण्ड आदि सभी देशोंके विचारक दिनपर दिन राजनीतिमें अधिक अधिक रुचि प्रगट कर रहे हैं। सौभाग्यकी बात है कि भारत वर्षमें श्रीप्रमथनाथ बनर्जी श्रीकाशी प्रसाद जायसवाल, श्रीविनय कुमार सरकार, श्रीराधा कुमुद मुकुर्जी आदि अनेक महाशय भारतके प्राचीन राजनीतिशास्त्र तथा राजनीतिक दशाकी पर्य्यालोचनामें अग्रसर हुए हैं। इन लोगोंका श्रम बहुतही अधिक सराहनीय है।

सातवां परिच्छेद ।

प्रभुत्व-शक्ति (Sovereignty)

§५०. प्रभुत्वशक्तिका स्वरूप ।

नव्य समाज नाना विध संगठनोंसे परिपूर्ण है। श्रम, मुद्रा, व्यापार, व्यवसायसे लेकर शिक्षण मुद्रण आदि सभी कामोंमें किसी न किसी प्रकारका संगठन अवश्य मौजूद है। श्रम समिति, व्यावसायिक समिति, ट्रस्ट, पूल, कटल, ब्रह्म-समाज, देवसमाज, आर्य्यसमाज आदि इसीके उदाहरण हैं। राष्ट्र भी एक संगठन है। प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त संगठनों-से राष्ट्र रूपी संगठनका क्या भेद है? इस प्रश्नको सरल करनेसे पूर्व प्रभुत्व शक्ति (sovereignty) का निरूपण अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। इसी निरूपणसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि नागरिकोंका स्वराष्ट्रसे, राष्ट्रीय प्रभुत्व शक्ति-का वर्यक्तिक स्वतन्त्रतासे और एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रसे पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? राज्य नियमोंका स्वरूप दिखाने में भी इससे पर्य्याप्त सहायता मिलेगी।

प्रभुत्व शक्ति नव्य राजनीति शास्त्रका प्राण है। इसीपर राज्य नियमों तथा अन्तर्जातीय सम्बन्धोंका प्रचलित रहना निर्भर रहता है। यह पूर्वमें दिखाया जा चुका है कि 'स्थान विशेषके संगठित समाजका नाम राष्ट्र है'। इसीसे यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्रकी उत्पत्ति तभी संभव है जब कि समाजमें

इतना संगठन हो कि वह राज्य कायम कर सके, कानूनोंको चला सके और अपने संगठनको देर तक स्थित रख सके। पराधीन समाजमें 'राष्ट्र' की स्थिति कहां? सबसे बड़ी बात तो यह है कि समाजमें ऐसे पुरुष होने चाहिये जो कि नागरिकोंको अपनी आज्ञाओंपर बलात् चला सकें। यही लोग राष्ट्रके शासक या प्रभु और इनकी आज्ञा ही राज्यनियम है। इनको प्रभुत्वशक्ति अपरिमित तथा निर्बाध होती है। यदि कोई संस्था इनकी प्रभुत्व शक्तिकी बाधक हो तो वस्तुतः राष्ट्रका प्रभु उसी संस्थाको और उसीकी सचालक शक्तिको राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति समझना चाहिये। प्रभुत्वशक्तिके विचारसे राष्ट्रका स्वरूप निम्न प्रकारसे दिखाया जा सकता है[1]।

(क) अन्तरीय तौरपर—राष्ट्रकी प्रभुत्व शक्ति संपूर्ण नागरिकोंके सारेके सारे संगठनोंपर अपरिमित तथा निर्बाध होती है। अधिकारो तथा प्रणोंका स्रोत राष्ट्र ही है। यही कारण है कि राष्ट्रके विरुद्ध व्यक्तिगत अधिकारों तथा प्रणों की कुछ भी सत्ता नहीं है। यदि एक नागरिक दूसरे नागरिकके खास खास मामलोंमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता तो इसका मुख्य कारण राष्ट्रकी प्रभुत्व शक्तिको ही समझना चाहिये। 'राज्य नियम अच्छा है या बुरा है' यह विचार राज्य नियम प्रतिपालनमें बाधक नहीं हो सकता। राष्ट्रकी

(१) Gettell Introtoduction Politcial Science. (1910). p p. 93–94

Leacock: Elements of political Science. (1913 p. p. 52–53.

इच्छापर चलनेमें प्रत्येक नागरिक बाधित है । अनन्त शक्ति होते हुए भी राष्ट्र अपनी सारीकी सारी शक्तिका प्रयोग नहीं करता है । अपनी बहुतसी शक्ति यह दूसरोंको भी दे देता है । इसका यह तात्पर्य नही कि वह लोग राष्ट्रद्वारा दी हुई शक्तिपर अपना किसी प्रकारका भी अधिकार प्रगट कर सकते हैं ।

जब कभी राष्ट्र अपनी शक्तियाँ दे देता है तो उसको राज्य नियमोंके अनुसार ही उन शक्तियोंको लौटाना पड़ता है । राष्ट्र शासकोंके ऊपर है । शासक वही काम कर सकते हैं जो कि राष्ट्र चाहता हो । राष्ट्र द्वारा दिये गये वैयक्तिक अधिकारोंमें जब किसी प्रकारकी अदल-बदलकी जरूरत होती है तो शासक लोग राष्ट्रको ही प्रेरित करते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तरीय तौरपर राष्ट्रकी शक्ति अपरिमित तथा पूर्ण स्वतन्त्र है[२] ।

(ख) बाह्य तौरपर—अन्य राष्ट्रोंके हस्तक्षेपसे राष्ट्रकी प्रभुत्व शक्तिका सुरक्षित रहना आवश्यक है । जहां यह बात नहीं है वहां राष्ट्रको पराधीन समझना चाहिये । बहुत बार अन्तर्राष्ट्रीय नियमों तथा सन्धियोंके अनुसार राष्ट्र चलते हैं । परन्तु इससे उसकी प्रभुत्व शक्तिपर किसी प्रकारकी भी बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि उनके मानने या न माननेमें

---

(२) Gettell: Introduction to Political Scienc (1910) pp. 94–95.
Willoughby. the Native of the State. p p. 181–183.

भी राष्ट्र स्वतन्त्र हैं राष्ट्र उपनिवेशोंको पूर्ण स्वराज्य दे सकते है और अन्तरीय राष्ट्रोको अमरीकाके सदृश अन्तरीय शासन मे बहुत कुछ स्वाधीन कर सकते हैं। इस पर भी उनका प्रभुत्व शक्ति ज्योंकी त्यों बनी रहती है क्योंकि उपर्युक्त कार्यो- के करने या न करनेमें कोई भी उनको बाध्य नहीं कर सकता।

राष्ट्रकी प्रभुत्व शक्ति विभक्त नही की जा सकती। प्रभुत्व शक्तिके काममे लानेके अधिकारको भिन्न भिन्न राजकीय विभागोंमें बांटते हुए भी राष्ट्रके हृदय सदृश प्रभुत्व शक्ति रूपी पिण्ड चूर चूर नही किया जा सकता। राष्ट्रकी सत्ता वहां ही है जहा प्रभुत्व शक्ति पूर्णरूपेण विद्यमान हो। यदि भिन्न २ राष्ट्रोंमें प्रभुत्व शक्ति बटी हो तो वहा एकके स्थानपर बहुत राष्ट्र समझने चाहिये। राज्य नियमोके अनुसार राष्ट्रको प्रभुत्व शक्ति पूर्ण, अपरिमित तथा अभेद्य है (३)

§५१. *प्रभुत्वशक्ति तथा राज्य-नियम।*

राष्ट्रकी प्रभुत्व शक्तिका प्रश्न बडा पेचीदा है। चिरका- लसे इसपर विवाद चला आ रहा है और अभी तक ज्योंका त्यों बना है। प्रोफेसर बर्गसके इस विचारको—कि मैं व्यक्ति या व्यक्तिसंघपर राष्ट्रकी प्रभुत्व शक्तिको अपरिमित, स्वेच्छापूर्ण तथा निर्बाध समझता हू—प्रायः राजनीतिज्ञ सहसा ही स्वीकार करनेसे हिचकते हैं। परन्तु इसमें हिच- कनेकी कोई विशेष बात नही मालूम पडती, क्योंकि समा-

* Leacock, Elements of Political Science P.P 52-55.

उसके संगठन पर ही राष्ट्रका आधार है। यह संगठन तभी संभव है जब कि राष्ट्रका नियन्त्रण तथा व्यक्तियों द्वारा राष्ट्रकी आज्ञाका प्रति पालन यह दोनों बातें पूर्ण रूपसे विद्यमान हों। यदि व्यक्ति राष्ट्रकी आज्ञापर न चलते हों तो राष्ट्रकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। राष्ट्रकी स्थिति तभी तक है जब तक कि व्यक्ति राष्ट्रकी आज्ञापर चलते हैं। बहुतसे स्थानोंमें राष्ट्रकी प्रभुत्व शक्ति ही काममें लाते हैं। उनका नियन्त्रण न्याययुक्त हो या अन्याययुक्त हो, लोग सर्व सम्मतिसे या दल विशेषकी बहुसम्मतिसे चुने गये हों—यदि उनकी आज्ञाका प्रतिपालन होता है तो राष्ट्रकी स्थितिका अपलाप नहीं किया जा सकता। उनकी आज्ञाका नाम ही राज्यनियम है।

यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि राष्ट्रकी प्रभुत्व शक्ति का कोई भी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। आज कल प्रायः राष्ट्रकी नियामक सभामें ही सम्मिलित रूपसे राष्ट्रकी प्रभुत्व शक्तिका आधार है। वह प्रत्येक प्रतिबन्ध तथा बाधाको हटा सकती है। महाशय आस्टिनके राज्यनियम सम्बन्धी लक्षणसे यही बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। उसका कथन है कि 'यदि कोई अपूर्व शक्ति-संपन्न पुरुष स्वयं किसीके भी अधीन न होते हुए, अपनी आज्ञाओंपर किसी मनुष्य समाजको चलाता है तो वही पुरुष राजा या प्रभु, और वही मनुष्य समाज राजनीतिक स्वतन्त्र समाज हुआ।' इसीसे स्पष्ट है कि 'नियम तथा आज्ञा प्रतिपालन' यह दो ही राष्ट्रकी कसौटी हैं। आज्ञा प्रतिपालनके लिए निर्दिष्ट वाक्य ही राज्य नियम है। राष्ट्रने व्यक्तियोंको जो जो स्वत-

न्त्रता तथा अधिकार दिये हैं उनको वहां वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक अधिकार समझने चाहिये। राज्य नियमोंके अनुसार इनसे भिन्न भिन्न राष्ट्रके विरुद्ध वयक्तिक स्वतन्त्रता तथा वयक्तिक अधिकार कोई वस्तु नहीं।"*

१५२. *प्रभुत्वशक्तिके चिन्ह तथा गुण*

समाजमें राष्ट्र रूपी संगठनसे बढ़ कर कोई संगठन नहीं। अन्य साधारण संगठनोंसे इसकी प्रभुत्वशक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी है सबसे बड़ी बात तो यह है कि समाजके सम्पूर्ण संगठनोंकी प्रभुत्व शक्तिका स्रोत राष्ट्रकी प्रभुत्व-शक्ति ही है। राजनीतिज्ञ इसके निम्नलिखित चिन्ह तथा गुण प्रगट करते हैं।

(क) महत्व—संगठित समाज या जातियां अपने महत्व-का विशेष ध्यान रखती हैं। वह अपनी प्रभुत्वशक्तिका अपमान सहन नहीं कर सकतीं। राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति, इज्जत तथा आज्ञाके विरुद्ध कार्य्योंको रोममें बड़ा भारी अपराध समझते हैं।

(ख) स्वातन्त्र्य—विदेशीय राष्ट्रोंसे राष्ट्रको प्रभुत्व शक्तिका स्वतंत्र होना आवश्यक है। यदि भारत जैसे किसी राष्ट्रको दूसरोंकी प्रभुत्वशक्तिके सामने सिर झुकाना पड़े तो उसकी प्रभुत्वशक्तिको नष्ट और उसको पराधीन समझना चाहिये।

(ग) राज्य संशोधन—प्रतिनिधितन्त्र राज्योंमें प्रभुत्व शक्तिका स्रोत जनता होती है। यही कारण है कि राज्य

(3)Gettell Introduction to Political Science P. 95

संशोधनमें जनताकी प्रभुत्वशक्तिका प्रतिबन्ध रहित होना आवश्यक है। इस प्रकारका अधिकार किसी एक व्यक्ति या दलके पास न रहकर संपूर्ण संगठित समाजके पास रहता है। इच्छा न होते हुए और आत्म हननकी आशंका रखते हुए भी बुरेसे बुरे राज्य नियमका प्रति पालन व्यक्तियोंके लिये जरूरी है। यदि लोग ऐसा न करें तो राष्ट्रकी शान्ति स्थिरता तथा एकताका देरतक कायम रहना असम्भव है।

राज्य संशोधन Reform तथा राज्यक्रान्ति Revolution में बड़ा भेद है। राज्य संशोधन तभीतक है जबतक कि (१) संपूर्ण परिवर्तन प्रचलित राज्य नियमों तथा शासन पद्धतिको धाराओंके अनुसार ही किये जावें और (२) प्राचीन शासनपद्धतिकी आकृति तथा आधारको सर्वथा ही न पलट देवें। यदि यह बात न हो और शासनपद्धतिकी आकृति तथा आधार ही कुछ संशोधनोंके कारण पलटा जाय तो इसको राज्यक्रान्ति (Revolution) समझना चाहिये।

यदि परिवर्जित परिस्थितिके अनुसार राज्यका संशोधन निरन्तर न होता रहे तो राष्ट्रका जीवन तथा प्राण स्वरक्षित नहीं रह सकता। भारतके सदृश यदि किसी राष्ट्रकी जनताको इस नैसर्गिक अधिकारसे वञ्चित रखा जाय तो इसका यह तात्पर्य है कि राज्य उन्नतिका विरोधी है और राज्यक्रान्तिका बीज बो रहा है। जनताको राज्यक्रान्तिका अधिकार है या नहीं? यह एक विकट प्रश्न है, क्योंकि प्रचलित राज्यनियमोंके साथ 'राज्यक्रान्तिके अधिकार'का नैसर्गिक विरोध है। राजनीतिज्ञ राज्यक्रान्ति करनेमें जनताका अधिकार न मानते हुए भी इसको एक अवश्यंभावी ऐति-

हासिक घटना समझते हैं, जोकि संशोधन या परिवर्तनके विरोधी राज्योंके समूल नाश करनेके लिये उत्पन्न होती है और राष्ट्रका जीवन स्वास्थ्यप्रद परिस्थितिमें रखनेका यत्न करती है। शासकोंका कर्तव्य है कि जनताकी इच्छाओंके अनुसार राज्यमें उचित परिवर्तन करते हुए राज्यक्रान्तिको न उत्पन्न होने दें।

राष्ट्रको स्थितिके नाशका ही यदि सन्देह हो तो जनता-को यह अधिकार है कि वह राज्यक्रान्ति कर दे। राज्य तो राष्ट्रका एक अंग है। यदि राष्ट्ररूपी शरीरके नाशकी ही संभावना हो तो राज्यरूपी अंगको काटकर संशोधन करना आवश्यक है। सारांश यह है कि राज्यक्रान्ति आपद्धर्म्म है। राज्यनियम तथा राज्य, शान्तिके लिये हैं न कि आपत्तिके लिये। नीबूर (Niebuhr) ने ठीक कहा है कि 'आपद्धर्म्म की सत्ताका अपमान करना भयंकरसे भयंकर अत्याचारोंके लिए दरवाजा खोलना है। जब एक जाति पैरोंतले रौंदी जारही हो और अमानुषिक अत्याचारोंसे पीड़ित हो, स्त्री तथा पुरुषके अधिकारोंका जहां कोई ख्याल न हो, ऐसी भयंकर आपत्तिमें अत्याचारी राज्यके विरुद्ध राज्यक्रान्ति करनेसे बढ़कर कोई पुण्य नहीं, और जो इस सिद्धान्तको नहीं मानता उससे बढ़कर कोई पापी नहीं"।

(घ) नियम निर्माण—साधारण तौरपर राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति का मुख्य चिन्ह नियामक शक्ति ही है। जो नियम बनाता है प्रायः राष्ट्रको प्रभुत्वशक्ति उसीके पास रहती है।

(ङ) मुख्य शक्ति-प्रभुत्वशक्ति राष्ट्रकी संपूर्ण शक्तियोंमें मुख्य शक्ति है। शासनपद्धति तथा नियम निर्माणमें ही आजकल

प्रभुत्वशक्ति मुख्य तौरपर काममें आती है। एकतन्त्र राज्यमें राजा ही इस शक्तिका प्रयोग करता है। जातिका इसमें कुछ भी भाग नहीं होता।

(च) अनुत्तर दायित्व—प्रत्येक मनुष्य अपने कामोंके लिए उत्तरदायी है। प्राकृतिक घटनाओंके सम्मुख प्रत्येकको सिर झुकाना ही पड़ता है। यह होते हुए भी ऐसा कोई न्याया-धीश नहीं नियत किया जा सकता जिसके सम्मुख राष्ट्रको अपने कामोंका उत्तर देनेके लिए उपस्थित होना पड़े। यदि किसी एक राष्ट्रको दूसरे राष्ट्रकी अनुमतिके अनुसार अपनी प्रभुत्वशक्तिका प्रयोग करना पड़े तो उसको पराधीन ही समझना चाहिये। सारांश यह है कि राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है। वह किसी भी कामके लिए किसीके प्रति उत्तर दायी नहीं है।*

§ ५३. *प्रभुत्वशक्ति सिद्धान्तका उदय।*

प्रभुत्वशक्तिका स्वरूप, गुण तथा चिन्ह दिखाया जा चुका है। इसीको प्रभुत्वशक्ति सिद्धान्तका नाम भी दिया जाता है। इस सिद्धान्तका प्रारम्भ १६ वीं सदीसे माना जाता है, क्योंकि इसी समय प्राचीन राजनीतिक संस्थाओंका ह्रास, जातीय राष्ट्रों तथा जातीय विचारोंका उदय प्रारम्भ हुआ था। राष्ट्रका वर्तमान प्रचलित विचार सामने रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मध्यकालमें राष्ट्रोंकी सत्ता विद्य-मान न थी, क्योंकि परिवारपर आश्रित एकता उस समय

* The Theory of the State by Bluntchli Third Edition. P P 506-510

लुप्त हो चुकी थी और जातीय आधारपर नया संगठन गर्भावस्थामें था। वैयक्तिक पराधीनता तथा पारस्परिक प्रण ही संगठनका आधार था। रोमन साम्राज्यको सार्वभौम माननेसे और गृह्य तथा धार्मिक जीवनमें पोपका प्रभुत्व स्वीकार करनेसे यूरोपमें मध्यकालके अन्दर स्वाधीन तथा समान अधिकार युक्त राष्ट्रोंका उदय न हुआ। इसीके साथ ही साथ फ्यूडलिज़्मके कारण भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें विभक्त राजनीतिक अधिकार, और जनता तथा राजनीतिज्ञोंका किसी एक अनन्तशक्ति संपन्न प्रकृतिके जटिल सार्वभौम नियमोंमें विश्वास, प्रभुत्वशक्तिकी अपरिमितशक्तियुक्त, सर्व बाधाओंसे स्वतन्त्र, अनुत्तरदायी नवीन दिव्य प्रतिमाको चिरकाल तक लोगोंके सामने न रख सका।

मध्यकालके अन्तमें यूरोपीय समाज गर्भावस्थासे निकलकर नये रूपमें प्रगट हुआ। धार्मिक युद्ध crusades तथा पारस्परिक संघर्षसे कुलीन लोग निःशक्त हो गये। व्यापार तथा नगरोंके बढ़नेसे अन्य बहुतसे लोग ताल्लुकेदारोंकी अपेक्षा अधिक समृद्ध हो गये। कुलीनों तथा ताल्लुकेदारोंकी दुर्बलतासे भिन्न भिन्न राजाओंने लाभ उठाकर अपूर्वशक्ति प्राप्त की। परन्तु कुछ ही समयके बाद यूरोपीय जनताने यह रहस्य जान लिया कि राजा प्रजाका स्वामी नहीं है। राष्ट्र ही शक्तिका स्रोत है। राष्ट्रकी कृपासे ही राजा शक्तिसंपन्न है। फ्रान्समें एकतन्त्र राज्यने नवीन रूप धारण किया। उसको न्याय संगत तथा स्वाभाविक सिद्ध करनेके लिए बोदिनने सबसे पहले प्रभुत्वशक्ति सिद्धान्तका आविष्कार किया। उसने यह लिखा कि राष्ट्र ही नागरिकोंका

स्वामी है। उसकी प्रभुत्वशक्ति अपरिमित, पूर्ण, अमेद्य तथा स्वतन्त्र है। वोदिनके बाद राष्ट्रोंकी पृथक् सत्ता मानी जाने लगी। ग्रोटियसने अपने महाग्रन्थमें राष्ट्रका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया और प्रत्येक राष्ट्रोंको स्वतन्त्र तथा समान अधिकार वाला माना। इसी समयसे अन्तर्जातीय नियमोंने अपना रूप प्रगट किया। १६ वीं सदीके प्रारम्भमें जौन आस्टिनने अपने राजनीतिक विचारों तथा अध्ययनके कारण विशेष महत्व प्राप्त किया। इंग्लैण्ड तथा अमरीकाके अधिकांश विचारकोंपर उसकी छाप पड़ी। प्राकृतिक या नैसर्गिक नियमों (Natural laws) परसे विचारकोंकी श्रद्धा उठ गयी। प्रभुत्वशक्तिने अपना नवीन दिव्यरूप दिखाया। यही प्रभुत्वशक्ति सिद्धान्तका संक्षिप्त इतिहास है।*

§५४ *प्रभुत्वशक्ति सिद्धान्तकी आलोचना*

प्रभुत्वशक्तिके उपयुक्त स्वरूप तथा चिन्हको बहुतसे राजनीतिज्ञ स्वीकार नहीं करते। उनका ख्याल है कि राष्ट्रका यह अधिकार नहीं कि वह वैयक्तिक धर्म्म तथा वैयक्तिक जीवनमें हस्तक्षेप करे। सत्य है!। परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि वैयक्तिक धर्म्म तथा वैयक्तिक जीवनका क्षेत्र इतना स्पष्ट नहीं कि आंख मूंदकर राष्ट्रको प्रभुत्व-

*The Theory of the State by Bluntchli, Third Edition, P p 493—496

Gettel: Introduction to Political Science, P P 95-97

Austin: Lectures on Jurisprudence

शक्ति कुण्ठित की जासके। वैयक्तिक धर्म तथा वैयक्तिक जीवनका तात्पर्य्य क्या है? इसका निर्णय कौन करे? यदि इसके निर्णयमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र किया जाय और उसी निर्णयके अनुसार प्रभुत्वशक्ति परिमित की जाय तो राष्ट्रकी शान्ति, स्थिरता, तथा सत्ता ही लुप्त हो सकती है। व्यक्तियोंकी इच्छाओं तथा विचारोंको पृथक पृथक रूपसे राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिका प्रतिबन्धक या बाधक माननेसे राज्य तथा राज्यनियमका अभाव होना और अराजकताका फैलना स्वाभाविक है। यदि इसका निर्णय जनताकी बहुसम्मतिपर छोड़ा जाय और जो निर्णय हो उसीपर व्यक्तियोंको चलनेके लिए बाध्य किया जाय तो राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिका अपरिमित तथा प्रतिबन्ध रहित होना सिद्ध ही होगया। इस प्रकार उपर्युक्त आक्षेपका कोई मूल्य नहीं रहता।

राज्यनियमोंके अनुसार राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति अपरिमित तथा अबाध्य है। वह कहां हस्तक्षेप करे और कहां न हस्तक्षेप करे, किन किन मामलोंमें नागरिकोंको स्वतन्त्रता दे, यह प्रभुत्वशक्तिके प्रयोग करनेवालोंपर निर्भर है। महाशय ब्लुन्टश्लीका मन्तव्य है कि "राष्ट्र सर्वशक्तिमान नहीं—क्योंकि बाह्य रूपसे अन्य राष्ट्रोंके सम्बन्धसे उसकी शक्ति प्रतिबद्ध है और अन्तरीय रूपसे उसकी आकृति ही ऐसी है और उसके अंगरूप व्यक्तियोंके अधिकार ही ऐसे हैं कि उसको प्रभुत्वशक्ति अपरिमित नहीं कही जासकती।" यह नहीं माना जासकता, क्योंकि राजनियमोंके अनुसार राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति अपरिमित ही है। वास्तवमें क्या होता है यह दूसरी

बात है। बैन्थमने यह कहकर कि 'विदेशीय राष्ट्रको संधियोंके द्वारा प्रत्येक राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति प्रतिबद्ध है'—ब्लुन्टस्लीके सदृश ही भूलकी। असली बात तो यह है कि जिस प्रकार रेखागणितमें बिन्दुको लम्बाई चौड़ाईसे शून्य माना है यद्यपि प्रयोगस्थलमें ऐसा नहीं होता, उसी प्रकार राजनीति शास्त्रमें 'प्रभुत्वशक्ति अपरिमित स्वतन्त्र तथा प्रतिबन्धरहित मानी गयी है।

प्रभुत्वशक्ति-सिद्धान्तपर सबसे अधिक विचारपूर्ण आक्षेप सर हैनीमेनका है। मेन सात वर्षों तक लगातार भारतवर्षमें रहा। नियामक सभाका सभ्य होनेसे उसको भारतकी प्राचीन शासनपद्धतिका पूर्ण तौरपर ज्ञान होगया। भारतमें प्राचीनकालसे ब्रिटिश राज्य पर्य्यन्त राज्यनियम नहीं बनाये जाते थे। देशप्रथा तथा प्राचीन राज्यनियम ही शासनके आधार थे। स्वेच्छाचारीसे स्वेच्छाचारी भारतीय राजा नये नये मनमाने ढंगके कानून बनाकर जनतापर अत्याचार करना न जानते थे। रणजीत सिंह जैसे प्रबल निरंकुश स्वेच्छाचारी राजाके विषयमें मेनने लिखा है कि वह छोटेसे छोटे अपराधपर लोगोंको मृत्युदण्ड दे देता था। यह होते हुए भी उसने एक भी ऐसी आज्ञा नहीं निकाली जिसे हम राज्यनियम कह सकें। जो कानून चिरकालसे पञ्जाबमें प्रचलित थे उन्हींके अनुसार न्यायाधीश अपराधका निर्णय करते थे। सारांश यह है कि भारतमें राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति इस हद्दतक स्वेच्छापूर्ण तथा अपरिमित कभी भी न हुई कि वह प्राचीन प्रथाओं तथा प्राचीन राज्यनियमोंका कतरब्योंत कर सके। अधिक क्या

यूरोपीय राष्ट्रोंमें अभी तक पुरानी प्रथायें, पुराने राज्यनियम तथा अधिकारपत्र राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिको परिमित कर रहे हैं। इन सब बातोंको सामने रखते हुए मेनका विचार है कि राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिको अपरिमित, प्रतिबन्धरहित तथा स्वतन्त्र मानना सत्यका अपलाप करना है।

मेनके आक्षेपकी प्रबलताका अनुमान इसीसे किया जा सकता है आस्टिन तकको यह कहना पड़ा कि 'जो जो बातें पुराने समयसे अबतक प्रचलित हैं और न्यायाधीशोंको जिनका ख्याल रखकर फैसला करना पड़ता है—वे सब एक प्रकारसे राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिके विरुद्ध न होनेसे ही प्रचलित हैं। राष्ट्र उनको पसन्द करता है इसलिए उनका अस्तित्व है। पुराने नियमोंका प्रचलित होना पार्लमेण्टकी प्रभुत्वशक्तिको परिमित या प्रतिबन्ध युक्त नहीं बना सकता। क्योंकि पार्लमेण्ट इनमें यथेच्छ परिवर्तन कर सकती है और अबतक करती भी रही है।' पञ्जाबके महाराज रणजीत सिंहका दृष्टान्त प्रभुत्वशक्ति सिद्धान्तके खण्डनमें असमर्थ है। क्योंकि रणजीत सिंह पञ्जाबके प्राचीन नियमों तथा देश प्रथाओंको मनमाने तौरपर बदल सकता था। यदि वह ऐसा करनेसे डरता था तो इसका मूल कारण उसका धार्मिक विश्वास ही था।

बहुतसे राजनीतिज्ञोंका विचार है कि आस्टिनका उपर्युक्त प्रभुत्वशक्ति सिद्धान्त वर्तमान राष्ट्रोंके लिए ही सत्य है। प्राचीन तथा मध्यकालीन राष्ट्रोंके लिए यह ठीक नहीं है। इस विचारको सर जेम्स स्टीफ़नने यहां तक बढ़ाया है कि प्रभुत्वशक्ति सिद्धान्तकी रेखा तथा बिन्दुके लक्षणके

सहश ही कल्पित मानाहै। उनका कथन है कि 'जिस प्रकार-पूर्ण परिधि, बाधा रहित गति, या लम्बाई चौड़ाई रहित बिन्दु, विचारकी सुगमताके लिये मान लिया गया है उसी प्रकार प्रभुत्वशक्तिकी अपरिमित ? स्वतंत्र तथा प्रतिबन्ध कल्पना रहित की गयी है। वास्तविक जगत्में प्रभुत्वशक्ति अपने संपूर्णगुणों तथा चिन्होंके साथ कहींपर भी नहीं दिखायी पड़ती है। इस संसारमें न कोई पूर्ण स्वतंत्र, प्रतिबन्ध रहित, अपरिमितशक्ति सम्पन्न, स्वेच्छाचारी प्रभुत्व और न कोई ऐसी प्रभुत्वशक्ति ही है जो कि निर्बाध तथा अपरिमित हो।

कई एक लेखकोंने मेनके आक्षेपसे बचनेके लिए राष्ट्र तथा राज्यनियमके लक्षणको बदल दिया है। दृष्टान्त स्वरूप डाक्टर वुड्रो विल्सनने लिखा है कि ' स्थिर विचारों तथा स्थिर स्वभावोंका वह भाग राज्यनियम है जिसको राजकीय शक्ति तथा राजनीतिक अधिकारसे प्रचलित किया गया हो। नये नये राज्यनियमोंको बनाना इसी क्रमका एक भाग है। राज्यनियम संगठित समाजकी इच्छाके ही परिणाम हैं। राज्यनियमोंको एकमात्र राजकीय या नियामक शक्तिका चिन्ह समझना भूल करना होगा, क्योंकि सदाचारके नियम तथा न्यायाधीशोंके द्वारा नियमोंकी व्याख्या भी राज्यनियमका रूप धारण कर सकती है। राष्ट्रकी आज्ञा ही राज्यनियम है' यह सूत्र पूर्ण रूपसे सभ्य 'राष्ट्रोंमें लग सकता है। हमारी समझमें विल्सनका लक्षण भी इसीके अंतर्गत हो जाता है, क्योंकि जो बातें वह अपने नये लक्षणसे सिद्ध करना चाहते हैं वह इस लक्षणसे भी सिद्ध हो जाती हैं।

§५५ सामयिक राष्ट्रोंमें राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिका स्थान।

सामयिक राष्ट्रोंकी शासनपद्धतियोंसे भिन्न भिन्न राष्ट्रों की प्रभुत्वशक्तिका स्थान सुगमतासे ही जाना जा सकता है। दृष्टान्त स्वरूप ब्रिटिश साम्राज्यको ही लीजिये। उसकी प्रभुत्व शक्तिका केन्द्र पालयामेन्ट है (राजा, लार्ड्ज़ तथा कामन्ज़के सम्मिलित रूपका नाम ही पार्लमेन्ट है)।

आंग्ल पार्लमेन्टकी शक्ति अपरिमित तथा प्रतिबन्ध रहित है। यह प्रत्येक प्रकारका राज्यनियम बना सकती है। कोई भी ब्रिटिश न्यायालय पार्लमेन्टद्वारा पास किये गये राज्यनियमको रद्द नहीं कर सकता है। देश प्रथा, प्राक्कालीन राज्यनियम, लिखित स्वाधिकार पत्र (मैग्नाकार्टा) आदि कोई भी पार्लमेन्टका अपरिमित शक्तिको कम नहीं कर सकते। पार्लमेन्टके सन्मुख वैयक्तिक स्वतन्त्रताका पृथक अस्तित्व नहीं। किसी भी उपनिवेश या स्थानीय राज्यका ऐसा स्वराज्य नहीं, जिसको कि ब्रिटिश पार्लमेन्ट मिटा न सकती हो।

ब्रिटिश शासनपद्धति सरल है। अतः वहां प्रभुत्वशक्तिका प्रश्न बहुत टेढ़ा है परन्तु अमरीकन शासनपद्धतिमें यह बात नहीं। उसमें प्रभुत्वशक्तिका स्थान गुप्त है। अमरीकन राष्ट्रात्मक शासनपद्धति (Fedsral Government) में संगठित राष्ट्रोंकी नियामक तथा शासक शक्तियां परिमित हैं, क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेन्टके सदृश अमरीकन कांग्रेस मनमाना कानून नहीं बना सकती। अमरीकन न्यायालय प्रत्येक राज्यनियमपर विचार कर सकते हैं और

यदि वह अमरीकन शासनपद्धतिकी नियत धाराओंके विपरीत हो तो उसको रद्द भी कर सकते हैं । दृष्टान्तस्वरूप मुख्यराज्यका नियत कर सम्बन्धी राज्यनियम अपने अनुसार चलनेके लिए किसी भी अमरीकनको बाध्य नहीं कर सकता । सारांश यह है कि अमरीकामें प्रधान, कांग्रेस तथा राष्ट्रीय राज्योंमेंसे किसीके पास भी पूर्णरूपसे राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति नहीं है । परन्तु गम्भीर विचार करनेपर अमरीकाकी प्रभुत्वशक्तिका छिपा हुआ स्थान भी जाना जा सकता है ।

वास्तविक बात तो यह है कि अमरीकाकी प्रभुत्वशक्ति उस सभाके पास है जो कि अमरीकन शासनपद्धतिकी नियत स्थिर धाराओंको बदल सकती है । यद्यपि इस सभा की सत्ता पूर्ण रूपसे प्रत्यक्ष नहीं है तथापि इसकी प्रभुत्व शक्तिका अपलाप नहीं किया जा सकता । कांग्रेसके दो तिहाई सभ्य या तीन चौथाई नियामकों द्वारा किये गये विशेष सभाके सभ्य अमरीकन शासनपद्धतिकी नियत धाराओंको बदल सकते हैं और अमरीकन न्यायालय उनकी सम्मतियोंपर किसी प्रकारकी भी बाधा नहीं डाल सकते इसी विशेष सभामें अमरीकाकी प्रभुत्वशक्ति है और वह अपरिमित है । इसी प्रकार फ्रांसमें प्रधान सिनेट तथा प्रतिनिधि सभामेंसे किसीके पास भी राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति नहीं है । फ्रांसकी शासनपद्धतिकी नियत धाराओंके अनुसार इन सभोंकी शक्ति परिमित है । वस्तुतः फ्रांसकी प्रभुत्वशक्ति सीनेट तथा प्रतिनिधि सभाकी सम्मिलित बैठकमें (जो कि जातीय सभाके नामसे पुकारी जाती है ।) यही

जातीयसभा फ्रांसकी प्रभुत्वशक्तिका केन्द्र है। इसकी शक्ति अपरिमित है।

§५६ *राजनीतिक प्रभुत्वका सिद्धान्त।*

प्रभुत्वशक्तिका स्वरूप तथा स्थान राज्यनियमानुसार क्या है इसपर प्रकाश डाला जा चुका है। अब यह दिखानेका यत्न किया जावेगा कि आधुनिक राष्ट्रोंमें वस्तुतः प्रभुत्वशक्ति किसके पास रहती है। स्वेच्छाचारी राज्योंमें राजा ही सर्वशक्तिमान् तथा राष्ट्रका प्रभु होता है। परन्तु प्रायः यह देखनेमें आया है कि राजा भोगविलासमें मस्त होनेसे अपनाकाम मन्त्रियोंपर छोड़ देता है और इस प्रकार मन्त्री ही राष्ट्रका प्रभु तथा संचालक बन जाता है। कभी कभी पुरोहित लोग भी अपनी धार्मिक शक्तिके बलपर राजाको कठपुतला बना देते हैं और राष्ट्रको प्रभुत्व-शक्तिको स्वयं ही काममें लाते हैं। प्रतिनिधितन्त्रराज्योंमें देखनेमें तो प्रतिनिधियोंका राज्य होता है परन्तु वस्तुतः उनके पास निर्वाचनके सिवाय और कुछ भी नहीं होता है। निर्वाचित होनेके बाद प्रतिनिधि स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और प्रायः मनमाने ढंगपर चलने लगते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रतिनिधि निर्वाचनमें धनशक्तिका प्रयोग होनेसे धनिक या कुलीन लोग ही प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इससे राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति चिर-काल तक एक ही दल या एक ही श्रेणीके लोगोंके पास रहती है। आधुनिक राष्ट्रोंमें पूंजीपतियोंको विशेष शक्ति प्राप्त है। इससे राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति श्रमियोंके स्वार्थमें न प्रयुक्त होकर राष्ट्रोंके धनशोषणमें खर्च की जा रही है। साम्राज्य

वादकी ओर क्यों यूरोपीय राष्ट्र झुक रहें हैं इसका रहस्य भी इसीमें छिपा है। प्रोफेसर डीसी*ने कहा है कि 'राज्य-नियमोंके अनुसार जो राजा समझा जाता है प्रायः वह किसी दूसरेका कठपुतला होता है। जैसे दूसरा उसको नचाये वैसे ही उसको नाचना पड़ता है। प्रोफेसर सिज्विक†ने ऐसे राजाके पता लगानेका यत्न किया है जो कि राज्यनियमोंके द्वारा राजा होते हुए भी वास्तवमें भी राजा हो। उनका कथन है कि 'वह स्वेच्छाचारी प्रधान (Irresponsible Dictator) जो कि जनसभासे निर्वाचित हो और पुनर्निर्वाचनका अनिच्छुक हो, उसीको राज्यनियम-प्रतिपादित तथा वास्तविक, राजा या प्रभु समझना चाहिये। परन्तु यदि वह पुनर्निर्वाचनका इच्छुक हो तो उसको जनसभाकी इच्छाका विशेष तौरपर ध्यान रखना पड़ेगा। इस हालतमें उसको मुख्य शासक या प्रभु समझना गलती करना होगा'। इस प्रकार स्पष्ट हैं कि राज्यनियमोंके अनुसार एक व्यक्ति या सभाके पास प्रभुत्वशक्तिके होते हुए भी वास्तवमें वह राष्ट्रका प्रभु नहीं होता। कहीं पुरोहित, कहीं सेनापति या पूंजीपति, कहीं कुलीन या दर्बारी और कहीं पुरोहित या राजधानीके लोग ही राष्ट्रके वास्तविक प्रभु होते हैं, जब कि राज्यनियमोंके अनुसार कोई दूसरा ही व्यक्ति प्रभुपदपर शोभायमान होता है ‡। पिछली सदीसे यूरोपीय राष्ट्र प्रतिनिधितंत्र राज्य पद्धतिमें दिन पर दिन प्रविष्ट होते गये। रूसो तथा फरांसीसी

* A. V. Dicey, Law of the Consti tution

† Sidgwick, Elements of Politics, chop. XXXI

‡ Leacock, Elements of Political Science. p p. 63-67.

राज्यक्रांतिके बाद यह विचार लोगोंमें फैल गया कि राजनीतिक प्रभुत्व वस्तुतः जनताके पास रहता है *। उनका कथन है कि 'प्रभुत्व उसीका होता है जो कि शक्तिशाली है। जो आज्ञाका प्रतिपालन करा सके और राष्ट्रको नियन्त्रित रख सके उसीको राष्ट्रका प्रभु समझना चाहिये। अति प्राचीनकालमें राजा ही राष्ट्रका प्रभु था। कालान्तरमें संगठन, चातुर्य तथा सैनिकबलसे कुछ लोग राष्ट्रके स्वामी बन बैठे। आजकल सब साधारणकी राजनीतिक जीवन तथा धनके बढ़नेसे जनताका बहुभाग ही राष्ट्रका स्वामी है। यह निर्वाचनके द्वारा ही काममें लाया जाता है। सारांश यह है कि प्रभुत्वशक्तिका वास्तविक स्रोत तथा आधार जनता है †।

परन्तु यह विचार सुगमतासे नहीं माना जा सकता। प्रश्न जो कुछ है वह यही है कि 'जनता'का अर्थ ही स्पष्ट नहीं। जनताका क्या तात्पर्य है? यदि इसका तात्पर्य राष्ट्रके अंगभूत व्यक्तियोंसे लिया जाता हो तो इसका दूसरा मतलब यह हुआ कि राष्ट्र शरीरोंकी शक्ति राष्ट्र शरीरोंके चूर्णीभूत पृथक् पृथक् अणुओंमें रहती है। इससे तो राष्ट्रका अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। सभी राष्ट्रोंमें संगठित सभायें हैं जो कि राष्ट्रीय शक्तिकी अधिष्ठात्री हैं। व्यक्तियोंके पास पृथक् पृथक् तौरपर कुछ भी राष्ट्रीय शक्ति नहीं। जिस प्रकार जीवित शरीरसे पृथक् पृथक् किये अंग

---

* Bluntschli, the Theory of the State, third Edition. p. 497.

† Gettell, Introduction to Political Science. p. 99, Sec 49

निर्जीव तथा निःशक्त हो जाते हैं उसी प्रकार राष्ट्र शरीरीके अंगभूत व्यक्तियोंका पृथक् अस्तित्व कुछ भी नहीं । उसमें शक्ति तथा जीवनका मानना भयंकर भूल करना होगा * ।

'प्रभुत्व उसीका होता है जो कि शक्तिशाली है । जो आज्ञाका प्रतिपालन करा सके और राष्ट्रको नियन्त्रित रखे, उसीको राष्ट्रका प्रभु समझना चाहिये' इस आधारपर जनताका राजनीतिक प्रभुत्व युक्त करना निरर्थक है । इससे यह पता नहीं चलता कि कौन कौनसे तथा कितने मनुष्योंके पास किसी राष्ट्रमें राजनीतिक प्रभुत्व रहता है । कौन शक्तियुक्त है, यदि यह जाननेका यत्न किया जावे तो हो सकता है कि जनता शक्तियुक्त न निकले । स्त्री तथा बालक लड़ाईमें असमर्थ हैं । मनुष्योंमें भी संगठित दल ज्यादा शक्तिशाली होता है, क्योंकि युद्धमें वही जीतता है जो किसी सेनापतिके नीचे काम करनेको तैयार रहता है और आंख मूंदकर उसीकी आज्ञापर चलता है । नियन्त्रणरहित जनता संगठित दलके सम्मुख निःशक्त होती है । यही कारण है कि शक्ति राजनीतिक प्रभुत्वका आधार नहीं हो सकती † ।

यदि जनताके राजनीतिक प्रभुत्वका चिह्न निर्वाचक ही समझे जावें तो भी उलझन नहीं सुलझती । क्योंकि निर्वाचकलोग प्रायः कुल आबादीका ¼ से ⅙ भाग होते हैं । इन लोगोंको जनताकी इच्छाका सूचक समझना भयंकर भूल होगी । सबसे बड़ी बात तो यह है कि निर्वाचकलोग

* Bluntschli, The theory of the State, third Edition p. 497.

† Gettell : Introduction to Political Science p p. 99-100

प्रतिनिधि चुननेके सिवाय और कुछ भी नहीं कर सकते। प्रतिनिधिगण निर्वाचित होते ही उनके प्रभुत्वसे निकलकर स्वतन्त्र हो जाते हैं। केवल उन्हीं देशोंमें निर्वाचकोंका राजनीतिक प्रभुत्व माना जा सकता है जहां कि जनसम्मति विधि (initiative and referendum) का प्रचार है। आम तौरपर यह भी देखा गया है कि पुरोहितों, पादरियों, कुलीनों, पूंजीपतियों आदिसे प्रभावित होकर निर्वाचक निर्वाचनका काम करते हैं। इससे निर्वाचकोंका राजनीतिक प्रभुत्व नाममात्रका ही रह जाता है। कभी कभी निर्वाचक साधारण जनताके विचारोंसे प्रभावित होकर भी लोगोंको निर्वाचित करते हैं। सारांश यह है कि प्रतिनिधितन्त्रराज्योंमें राजनीतिक प्रभुत्व निर्वाचकोंके पास सदा नहीं रहता। इसलिए उनको राजनीतिक प्रभुत्वका आधार मानना गलती करना है *।

जनतामें भी राजनीतिक प्रभुत्व न माननेका एक यह कारण है कि इससे राजनीतिक प्रभुत्वका राज्य-नियमानुकूल होना कठिन है। " राज्यद्वारा सघठित समाज ही राष्ट्र है। राज्य ही राष्ट्रके लिए नियमको बनाता है और चलाता है " इस विचारसे ही यह परिणाम निकलता है कि राज्यनियमोंका उल्लंघन कर प्रभुत्वशक्तिको काममें लाना 'विद्रोह या ग़दर' (Revolt) है। राज्यनियमोंके अनुसार चलते हुए ही जनता प्रभुत्व-शक्तिका प्रयोग कर सकती है, परन्तु इससे जनतामें राज-नीतिक प्रभुत्व कहां रहा ? जब जनताको भी राज्यनियमोंका

* Leacock Elements of Political Science, p.p. 65-66.

ध्यान रखना पड़ा तो उसका राजनीतिक प्रभुत्व पूर्णरूपेण कैसे माना जा सकता है ? यही कारण है कि राजनीतिज्ञ जनताकी प्रभुत्वशक्तिका तात्पर्य यही लेते हैं कि राज्य शान्तिकालमें जनताकी सम्मतिके अनुसार ही काम करनेका यत्न करें। यदि जनताका राजासे मतभेद हो और राज्य अपने ढंगपरही काम करनेपर उतारू हो तो 'राज्यक्रान्तिकी शक्ति' ही जनताकी प्रभुत्वशक्ति है * ।

प्रोफ़ेसर रीशे (Ritchie) तथा अन्य नीतिज्ञोंने इसी ' राज्यक्रान्तिकी शक्ति ' को आधार बनाकर जनताकी प्रभुत्व-शक्तिको ही पुष्ट किया है। प्रोफ़ेसर रीशे एक स्थानपर लिखते हैं कि जनताकी सम्मतियों तथा विचारोंमेंही राष्ट्रका प्रभुत्व है। रूसपर यदि ज़ारका राज्य था तो केवल इसीलिए कि लोगोंकी बहुसंख्या उसको ईश्वरका अवतार समझती थी। जनताकी सम्मति रूसके ज़ारके शासनमें उसी प्रकार कारण थी जिस प्रकार कि स्विस् राष्ट्रात्मक राज्यके शासनमें कारण है † । इसी प्रकार मैकक्नीने लिखा है कि जनतामें ही राष्ट्रकी वास्तविक प्रभुत्वशक्ति है । शासनका ढंग तथा शासकका स्वरूप इसमें बाधक नहीं ‡ ।

' राज्यक्रान्तिकी शक्ति ' भी जनताके पास यदि होती तो उसका राजनीतिक प्रभुत्व किसी हद्तक स्वीकार किया जा सकता। भारतकी जनता तथा रूसकी जनता चिरकाल-से प्रतिनिधितंत्र तथा उत्तरदायी राज्य चाहती थी। बड़ी

* Gettell : Introduction to Political Science, p. 100.

† Ritchie, D.G., Principles of State Interference (1891)

‡ M' Kechnie the State and the Individual'.

कठिनाइयोंके बाद रूसकी जनता स्वतंत्र हुई। भारतकी जनता अभीतक स्वेच्छाचारी अनुत्तरदायी राज्यमें जकड़ी है। स्वेच्छाचारी राज्य सैकड़ों प्रकारके क्रूर तथा कठोर कानून-बनाकर स्वतंत्रता-प्रिय लोगोंको नष्ट करते हैं, और जनताको 'राज्यक्रान्ति' करनेसे रोकते हैं। इसीकारण जनतामें राजनीतिक प्रभुत्व नहीं माना जा सकता। जो संगठित हैं और शक्तिशाली हैं उन्हींका राजनीतिक प्रभुत्व है।

जनतामें राजनीतिक प्रभुत्व क्यों माना गया? इसका इतिहास रहस्यपूर्ण है। स्वेच्छाचारी राज्योंके अत्याचार तथा क्रूर व्यवहार ही इसके तहमें हैं। राज्यके संशोधन या पलटनेके लिए जनताका साधन बनना आवश्यक है। राज्यों-के स्वेच्छाचार तथा अत्याचार तभी तक हैं जबतक कि जनता संगठित होकर राज्यक्रान्ति नहीं करती। फरांसीसी राज्यक्रान्तिमें जनताके प्रभुत्वशक्ति विषयक विचारने अपूर्व चमत्कार दिखाया। फरांसीसी जातीय सभाने राज्यका तख्ता पलटनेके लिए (१७९२ की २० अप्रेल को) रूसोके सिद्धान्तको पुष्ट करते हुए कहा कि 'प्रत्येक जातिको अपने अपने कानून बनाने तथा बदलनेका अधिकार है। यह सारी जनताके सिवाय और किसीका अधिकार नहीं'। १८४८ की बात है कि फ्रान्सकी जनताने परिमित शक्तियुक्त एक-तन्त्र राज्यको पलटकर अतिनिश्चित न राज्यकी स्थापना की। उस समय जो उद्घोषणा की गयी उसके ये शब्द हैं—"प्रत्येक युवा फरासीसी फ्रांसका नागरिक है। प्रत्येक नागरिक निर्वाचक और प्रत्येक निर्वाचक राष्ट्रका राजा या प्रभु है। सब नागरिकोंका समान अधिकार है। कोई एक नागरिक

दूसरे नागरिकको यह नहीं कह सकता कि 'तुम्हारी अपेक्षा राष्ट्रपर मेरा ज्यादा प्रभुत्व है'। अपनी शक्तिको समझो और काममें लाओ। अपनी प्रभुत्वशक्तिके उचित अधिकारी बनो* "। जबसे राजनीतिज्ञोंने जनतामें प्रभुत्वशक्तिको मान कर राज्यक्रान्ति करवाना शुरू किया तबसे राज्योंका स्वेच्छाचार बहुत कम हो गया। जनताकी सम्मतियोंके अनुसार ही राज्यनियम बनाना तथा शासन करना आजकल राज्योंका मुख्य उद्देश्य है। स्थानीय राज्य, जनसम्मतिविधि, निर्वाचनका सबको अधिकार देना, प्रतिनिधियों द्वारा काम कराना, इत्यादि अनेकों तरीके हैं जिनसे यूरोपीय राज्य राज्य-क्रान्तियोंसे अपने आपको बचाते हैं †। राज्यनियमोंके अनुसार जनताके पास राजनीतिक प्रभुत्व हो और चाहे न हो, परन्तु इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि राजनीतिज्ञोंने 'जनतामें प्रभुत्वशक्ति' मानकर बहुत काम किया। जनतामें राजनीतिक जीवनका जागृत होना भी बहुत कुछ इसीसे सम्बद्ध है। आजकल प्रभुत्वशक्ति तथा जनताकी सम्मतिमें पूर्ववत् भेद नहीं रहा। यही कारण है कि दोनोंकी भिन्नताका पता लगाना दिनपर दिन कठिन होता जाता है ‡।

---

* Bluntschli. The Theory of the State Third Edition

† Willoughby, the Nature of the State, P. 302.

‡ Gettell: Introduction to Political Science. P. 101.

आठवाँ परिच्छेद

वैयक्तिक स्वतन्त्रता

§ ५७ *राष्ट्रका व्यक्तिके साथ सम्बन्ध।*

भिन्न २ संघों तथा समूहोंके साथ व्यक्तिका सम्बन्ध क्या होना चाहिये इसपर चिरकालसे विवाद चला आरहा है। व्यक्ति तथा संघमें किसको मुख्य रखना चाहिये, इसीपर राजनीतिज्ञोंका भयंकर मतभेद है। बहुतसे राजनीतिज्ञ 'राष्ट्र' को सम्पूर्ण समाजका परिणाम समझते हैं। उनका मत है कि शान्तिस्थापन तथा नियंत्रणके अतिरिक्त राष्ट्रको वैयक्तिक मामलोंमें हस्तक्षेप न करना चाहिये। व्यक्तियोंको फूलने फलने और अपनी शक्तिको बढ़ानेमें पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। इसके विपरीत बहुतसे राजनीतिज्ञोंका ख्याल है कि राष्ट्रको समाजका हित सामने रखते हुए अपनी शक्तिको पूर्णरूपसे काममें लाना चाहिये और वैयक्तिक स्वतन्त्रताका कुछ भी ख्याल न रखना चाहिये।

राष्ट्रीय कर्मण्यता तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रताकी टक्करमें उचित क्या है? इसपर आगे चल कर एक पृथक् खण्डमें प्रकाश डाला जायगा। पूर्व परिच्छेदमें 'प्रभुत्वशक्ति' का अपरिमित, निर्बाध तथा स्वतन्त्रतामय स्वरूप दिखाया जाचुका है। व्यक्तियोंको सामने रखते हुए, यही कहना पड़ता

है कि राष्ट्रका मुख्य उद्देश उस परिस्थितिको तय्यार करना है जिसमें व्यक्ति (पूर्ण स्वतन्त्रताका) अनुभव करते हुए पूरे तौरपर फूले फले। प्रश्न जो कुछ है वह यही है कि राष्ट्रकी अपरिमित प्रभुत्वशक्तिके अन्दर व्यक्ति पूर्णस्वतन्त्रताका अनुभव कर ही कैसे सकते हैं? प्रभुत्वशक्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रताका नर्सागिक विरोध है। यदि राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति अपरिमित हो तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता वस्तु ही क्या रही? यदि ऐसा न होकर, वैयक्तिक स्वतन्त्रता निरंकुश तथा अबाध्य हो तो राष्ट्रीय प्रभुत्वशक्ति कोई चीज़ नही रहती। सारांश यह है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रताका अराजकताके साथ और राष्ट्रकी अपरिमित प्रभुत्वशक्तिका स्वेच्छाचार तथा स्वतंत्रताके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। भिन्न भिन्न राष्ट्रोंने समय समयपर इन दो विरोधी शक्तियोंमें संतुलन स्थापित करनेका यत्न किया परंतु सफलता अबतक न मिली। वास्तविक बात तो यह है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रताका अपरिमित प्रभुत्वशक्तिके साथ ऐसा नैसर्गिक विरोध नहीं है जैसा कि समझा जाता है। गम्भीर तौरपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो सकता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता तभी सुरक्षित रह सकती है जब कि प्रभुत्वशक्ति अपरिमित हो। अपरिमित प्रभुत्वशक्तिपर भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता निर्भर रहती है।

§५८ *नागरिक स्वतन्त्रताका स्वरूप।*

अभी एक सदीकी बात है कि राजनीतिज्ञ स्वाभाविक स्वतन्त्रता* तथा नैसर्गिक अधिकारके† विशेष तौरपर

* स्वाभाविक स्वतन्त्रता=Natural Liberty

† नैसर्गिक अधिकार=Natural Rights

पक्षपाती थे। जीवन, स्वतन्त्रता, संपत्ति, भोगविलास आदिमें व्यक्तियोंका नैसर्गिक अधिकार समझा जाताथा। राज्यके उदयसे पूर्व व्यक्ति पूर्ण तौरपर स्वतन्त्र थे, यह मानकर संपूर्ण विचार प्रारम्भ किये जाते थे। इसमें जो कुछ त्रुटि थी वह यही थी कि नैसर्गिक अवस्थामें भी व्यक्ति पूरे तौरपर स्वतन्त्र थे, क्योंकि नैसर्गिक अवस्थामें स्वतन्त्रता संभव ही नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने काममें पूर्ण स्वतन्त्र हो तो जिस मामलेमें व्यक्तियोंका विरोध उठ खड़ा हो उसका निर्णय, शक्ति-सिद्धान्तके सिवाय और कौन तरीका है जिससे किया जासके। शक्ति-सिद्धान्तके प्रयोगसे वैयक्तिक स्वतन्त्रताका नष्ट होना आवश्यक है। यही सिद्धान्त है जिसका लगातार प्रयोग समाजको भयंकर दासताकी जंजीरोंमें बांध सकता है और किसी एक व्यक्तिको पूर्ण स्वेच्छाचारी, निरंकुश तथा अत्याचारी बना सकता है।

दूसरोंको कमसे कम नुकसान पहुंचाते हुए अपनी इच्छाओंको पूराकरनेमें ही वैयक्तिक स्वतन्त्रताका आधार है। ऐसी ही हालतों में समाजका प्रत्येक व्यक्ति अधिकसे अधिक स्वतन्त्रताका अनुभव कर सकता है। यह तभी संभव है जब कि कोई अपरिमित शक्तियुक्त प्रभु या राजा ऐसे नियम बनाये और उनको प्रचलित करे जिससे वैयक्तिक स्वतन्त्रता एक दूसरेको नुकसान न पहुंचा सके। इसी कारणसे राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिका निर्बाध, निरंकुश तथा अपरिमित शक्तियुक्त होना आवश्यक है।

समाजकी बहुसंख्याकी स्वतन्त्रताको सुरक्षित रखनेके लिये राष्ट्र भिन्न भिन्न अपराधियोंको मृत्युदण्ड देता है।

राज्यकर लेनेका मूलतत्व बहुत कुछ इसीके साथ घनिष्ठ तौर पर जुड़ा हुआ है। राज्यका संचालन तथा राष्ट्रका नियंत्रण तभी संभव है जब कि राज्यके पास धन हो। यह धन राज्य-करके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सारांश यह है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता राष्ट्रकी अपरिमित प्रभुत्वशक्ति पर ही निर्भर रहती है। अराजकता इसी लिये बुरी समझी जाती है कि इसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता सुरक्षित न रह सकेगी।

§ ५९ स्वतन्त्रता शब्दका तात्पर्य।

'स्वतन्त्रता' तथा 'स्वतन्त्र' शब्दोंका प्रयोग भिन्न भिन्न स्थलोंपर भिन्न भिन्न अर्थोंमें किया जाता है। प्रोफेसर रीशे* का कथन है कि इंग्लैण्डमें बहुत पुराने समयमें स्वतन्त्र शब्दका व्यवहार 'स्वेच्छाचार'के अर्थमें किया जाता था। बेकन तथा राजा जेम्स स्वतन्त्र राज्य (Free monarchy) शब्दका अर्थ स्वेच्छाचारी राजाका राज्य, लेते थे। इस प्रकार भिन्न २ दलों, श्रेणियों, संभूय समुत्थानों और मिश्रित पूंजीवाली कम्पनियों-की स्वतन्त्रताका अर्थ उनके खास खास प्रकारके अधिकारों-से ही सम्बद्ध है जो कि उनको राज्यके द्वारा मिलते हैं। बहुत बार 'स्वतन्त्रता' शब्द उलटे अर्थोंमें ही प्रयुक्त होता है। यूरोपीय राज्य पराधीन देशोंपर स्वतन्त्र व्यापारकी नीति-को बहुत बार इसलिये प्रयुक्त करते हैं कि उनके व्यापार व्यवसायको नष्ट करें। कभी कभी प्रणकी स्वतन्त्रता (Freedom of contract) का परिणाम एक दलके लोगोंकी

1. Ritchie, Natural Rights, chap. vii

अनुचित पराधीनता होता है। यह भी बहुत संभव है कि राज्यद्वारा लोगोंको धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो और उस स्वतन्त्रताका फल यह हो कि भिन्न २ श्रेणीके लोगोंपर पुरोहितों तथा ब्राह्मणोंके अत्याचार उग्र रूप धारण कर लें। यही बात नैसर्गिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty) के साथ है। रूसोने लिखा है कि सामाजिक प्रण (Social contract)से लोगोंने अपनी नैसर्गिक स्वतन्त्रताको खोदिया। उन्होंने अपने उस अपरिमित अधिकारको खो दिया जिसके द्वारा वे मनमाने तौरपर चीजोंको प्राप्त कर सकते थे। अराजक वादियोंके विचार भी बहुत कुछ इसी 'स्वतन्त्रताके' अर्थको न समझनेके ही परिणाम हैं।

यदि संसारमें एक ही सर्वशक्तिमान मनुष्य होता तो 'स्वतन्त्रता' शब्दका अर्थ पूर्ववत् किया जा सकता। नैसर्गिक स्वतन्त्रतामें प्रत्येक व्यक्तिको सर्व प्रकारके अधिकार होंगे और वह मनमाने तौरपर सम्पूर्ण काम कर सकेगा। यदि यह माना जाय तो इसका यह मतलब होगा कि एक ही पदार्थपर मनुष्योंको बहुसंख्याका समान तौरपर अधिकार हो सकता है। परन्तु यह कब संभव है? लीबर (Lieber) ने ठीक कहा है कि 'बाहरकी तथा अन्य किसी प्रकारकी बाधाके बिना मनमाने तौरपर काम कर सकनेका नाम ही स्वतन्त्रता है। .. .इस अपरिमित तथा निर्बाध अर्थमें यदि स्वतन्त्रता शब्द लिया जाय तो उस अपरिमित शक्तिसंपन्न ईश्वरके सिवाय और कोई स्वतन्त्र नहीं

2 Social Contract, Bk 1 chap' viii-

कहा जासकता।' यही कारण है कि राजनीतिज्ञ स्वतन्त्रता शब्दको इस अर्थमें नहीं लेते हैं। पूर्वमें लिखा जाचुका है कि दूसरोंको कमसे कम नुकसान पहुंचाते हुए अपनी इच्छाओंको पूरा कर सकनेके अर्थमें ही स्वतन्त्रता शब्दका व्यवहार उचित है। संवत् १८४६ (१७८६) में फ्रांसके अन्दर स्वतन्त्रताकी उद्घोषणा (Declaration of the Rights of Man) करते समय राजनीतिज्ञोंने यह स्पष्ट कहा था कि "दूसरोंको नुकसान न पहुंचाते हुए प्रत्येक प्रकारके कामको कर सकनेका नाम ही स्वतन्त्रता है" यही बात हर्बट स्पेन्सरने कही है कि 'प्रत्येक मनुष्य काम करनेमें वहांतक स्वतन्त्र है जहांतक कि वह दूसरोंकी स्वतन्त्रताका घात नहीं करता है।'

'स्वतन्त्रता' शब्दके उपरिलिखित अर्थका राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिके साथ कोई विरोध नहीं पड़ता क्योंकि राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिके अपरिमित तथा निर्बाध होनेपर ही उस प्रकारका स्वतन्त्रता संभव है। व्यक्तियोंको दूसरोंपर अत्याचार तथा अन्याय करनेसे राष्ट्र ही रोकता है। स्वतन्त्र नागरिक तथा अपरिमित शक्तियुक्त प्रभुत्व शक्तिका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, इसकी व्याख्या करते समय इसी बातको ध्यानमें रखना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति यदि मनमाने तौरपर काम करना चाहे और दूसरोंके अत्याचारों तथा अन्यायोंसे अपने आपको बचाना चाहे तो राष्ट्रका प्रभुत्वशक्तिके सामने उसका सिर झुकाना आवश्यक है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि राष्ट्र ही प्रत्येक व्यक्तिके कामों तथा उद्देश्योंको नियत करे। राष्ट्रका जो कुछ कर्तव्य है वह

यही है कि राष्ट्र प्रत्येक व्यक्तिको पारस्परिक अन्याय तथा अत्याचारसे बचाये। आम तौरपर यह प्रश्न किया जाता है कि 'राष्ट्र जनताका हित यदि किसी बातमें देखे तो उस बातके करनेपर जनताको क्या बाधित न करे? इसका उत्तर एक पृथक् भागमें ही दिया जायगा अतः यह प्रकरण यहांपर ही छोड़ दिया जाता है।

§६० *स्वतन्त्रता शब्दका विशेष अर्थ।*

राजनीतिक ग्रन्थोंमें, भिन्न भिन्न स्थलोंपर 'स्वतन्त्रता' शब्दका भिन्न भिन्न अर्थ लिया जाता है। 'जातीय स्वाधीनता' के अर्थमें भी इसका प्रयोग प्रायः देखा गया है। हमलोग 'स्वतन्त्रता' चाहते हैं इसका अर्थ यह है कि हमलोग ब्रिटिश राज्यके नीचे न रहकर भारतीय प्रतिनिधितन्त्र राज्यके नीचे रहना चाहते हैं। कभी कभी लोग कहते हैं कि अमरीका, फ्रांस तथा ग्रेटब्रिटन स्वतन्त्र हैं। उनको स्वतन्त्रता प्राप्त है। यहां स्वतन्त्रताका तात्पर्य उत्तरदायी राज्य है जो कि राज्यनियमोंके अनुसार उनको मिला हुआ है। जहां किसी एक दल या श्रेणीके लोगोंकी प्रधानता होती है वहांपर भी स्वतन्त्रता शब्दका व्यवहार देखा गया है (Constitutional liberty)। अंग्रेजीमें स्वतन्त्रता (liberty) शब्दके प्रयोगमें जो गड़बड़ है वह हिन्दीमें भी उत्पन्न हो रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि अंग्रेज जातिके राजनीतिक विचारोंसे ही भारतीय जनता दिनपर दिन प्रभावित हो रही है। हिन्दीमें राजनीतिक शब्दोंकी कमी है। अंग्रेजी शब्दोंका तात्पर्य देनेवाले संस्कृतके शब्दोंके द्वारा ही यह

कभी भी पूरी की जाती है। संस्कृतके प्रत्येक शब्दके चुनावमें अंग्रेजी भावकी मुख्यता होनेसे उसके दोषभी उसमें समा जाते हैं। अंग्रेजी शब्द जिन स्थलोंमें प्रायः अस्पष्ट हैं, संस्कृतके शब्द भी वहां अस्पष्ट ही हैं।

अंग्रेज लेखक बहुत बार राष्ट्र तथा राज्यमें कोई भेद नहीं समझते हैं। यही कारण है कि बहुत बार वे लोग स्टेट तथा गवर्नमेण्ट शब्दका प्रयोग एक ही अर्थमें कर देते हैं। अंग्रेजी ग्रंथोंका सहारा लेकर ही हिन्दी ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। यही कारण है कि उनमें भी बहुत बार राष्ट्र तथा राज्यका भेद मिटा दिया जाता है। ऐसा बहुत कुछ स्वाभाविक भी है, क्योंकि राष्ट्रकी इच्छाएं राज्य द्वारा ही प्रकाशित होती हैं। राज्य राष्ट्रका मुख है। जिस प्रकार 'देवदत्तने यह कहा' इस वाक्यमें देवदत्त तथा देवदत्तके मुखमें कोई भेद नहीं माना जाता, उसी प्रकार 'राष्ट्रने या राज्यने यह किया' इस वाक्यमें राष्ट्र तथा राज्यमें कोई भेद नहीं माना जा सकता है।

६६१ वैयक्तिक स्वतन्त्रताका संरक्षण।

राष्ट्र वैयक्तिक स्वतन्त्रताको दो ओरसे बचाता है। एक तो राज्यके अत्याचारों तथा अनधिकार हस्तक्षेपोंसे और दूसरे, व्यक्तियोंके पारस्परिक द्रोहों तथा लड़ाइयोंसे। यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि राज्यका आधार राष्ट्र है। राष्ट्र ही राज्यको बनाता तथा बिगाड़ता है। यही कारण है कि राज्यके अत्याचारोंसे व्यक्तियोंका बचाना राष्ट्रका ही काम है, वैयक्तिक मामलोंमें राष्ट्र प्रत्यक्ष तौरपर भाग नहीं

लेता है। उसने राज्यको ही यह काम सुपुर्द किया है। राष्ट्र व्यक्ति तथा व्यक्ति-समूहोंके आक्रमणसे किसी भी मनुष्यको स्वयं नहीं बचाता है। यह काम सोधे तौरपर राज्य ही करता है। व्यक्तियोंका यह अधिकार नहीं है कि राज्यके नियमोंको तोड़कर राज्यके अधिकारोंको नुकसान पहुंचावें। इसी प्रकार राज्य भी राज्यनियमोंको रद्दीकी टोकरीमें रख-कर व्यक्तियोंके अधिकारोंको नहीं कुचल सकते हैं। राज्य तथा व्यक्तियोंके अधिकार विषयक झगड़ोंका निपटारा राष्ट्र ही करता है। व्यक्तियोंके पारस्परिक झगड़ोंका निप-टारा करनेके समय राज्यकी स्थिति एक निर्णेताकी ही स्थिति होती है।

सभी सभ्य देशोंमें वैयक्तिक सम्बन्धोंको स्थिर रखनेवाले राज्यनियम लगभग समान ही हैं। यूरोपीय राष्ट्रोंमें व्यक्ति-योंको ऐसे अधिकार प्राप्त हैं जिनके सहारे वे राज्यके अत्याचा-रोंसे अपने आपको किसी हद्द तक बचा सकते हैं। पूर्ण तौरपर संगठित सभी सभ्य समाजोंमें कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रचलित हैं जो, चाहे लिखित हों या चाहे लिखित न हों, शासन पद्धतिकी धाराओंके नामसे पुकारे जाते हैं। इन्हीं धाराओंके आधारपर राष्ट्रका संगठन, राज्यका निर्माण, तथा राज्यके कार्य्य क्षेत्र राज्यके अधिकार नियत किये जाते हैं। इन्हीं धाराओंके अनुसार व्यक्तियोंको वे अधिकार प्राप्त हैं जिनके द्वारा वे अपने आपको राज्यके अनुचित हस्तक्षेपों तथा अत्याचारोंसे बचा सकते हैं। राज्यसंशोधन तथा शासन-पद्धति सम्बन्धी परिवर्तनमें व्यक्तियोंका ही मुख्य तौरपर अधिकार है। राज्य इसी अधिकारके भयसे व्यक्तियोंको

बहुत नहीं सताते हैं । परन्तु जिन देशोंमें व्यक्तियोंको ऐसा कोई भी अधिकार नहीं प्राप्त है वहां राज्यकी कृपा ही वैयक्तिक स्वतन्त्रताको बचा सकती है । ऐसे देशोंमें राज्य चाहे तो व्यक्तियोंके प्रत्येक अधिकारको निर्दयतासे कुचल कर पूर्ण तौरपर स्वेच्छाचारी, निरंकुश तथा अत्याचारी बन सकता है । ˙

इंग्लैण्डमें नियामक सभाकी शक्ति अपरिमित है । नियामक सभाके विरुद्ध वैयक्तिक स्वतन्त्रताका वहां कोई अर्थ नहीं, वही व्यक्तियोंको मनमाने तौरपर स्वतन्त्रता प्रदान करती है । नियामक सभा राष्ट्रकी शासनपद्धतिको पलट सकती है । परन्तु इसके कार्य्योंपर कोई बाधा नहीं है । न्यायाधीशोंको नियत करना तथा निर्णायकविभागका निर्माण भी इसीके ही हाथोंमें है । फ्रान्स तथा इंग्लैण्डकी नियामक सभाओंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी बहुतसे राज्यनियम बनाये हैं, परन्तु इनको जब वह चाहे मटियामेट भी कर सकती है । इंग्लैण्डमें निर्णायक-विभाग शासन-विभागसे सर्वथा स्वतन्त्र है । आम तौरपर निर्णायकविभाग ही आंग्लोंको शासकोंके अत्याचारोंसे बचाता है । भारतवर्षमें न तो अपनी नियामक सभा है और न कोई ऐसा निर्णायकविभाग है जो भारतीयोंको शासकोंके स्वेच्छाचारसे बचा सके । अमरीकामें तो शासनपद्धतिकी धाराएं नियत हैं । कोई भी राज्य उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता है । यहांपर ही बस नहीं । वहां निर्णायकविभाग नियामकविभागसे ऊंचा समझा जाता है । नियामकविभागके नियमादि शासनपद्धतिकी धाराओंके अनुकूल हों तो

निर्णायकविभाग उनको मनमाने तौरपर रद्द कर सकता है। इन सब भेदोंके होते हुए भी यूरोपीय राष्ट्रोंके अन्दर प्रायः व्यक्तियोंको एक सदृश ही स्वतन्त्रता प्राप्त है। फरक जो कुछ है वह केवल राज्यनियमोंका ही फरक है। वैयक्तिक स्वतन्त्रताका राज्यनियमोंके साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आम तौरपर यह भी देखा गया है कि राज्य-नियमोंके अनुसार अधिकसे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके भी व्यक्ति राज्यके अत्याचारोंसे पीड़ित होते हैं। इंग्लैंडमें राज्यनियमोंके अनुसार व्यक्तियोंको परिमित स्वतन्त्रता ही मिली हुई है। यह होते हुए भी वहां लोग अन्य राष्ट्रोंकी अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र हैं।

६८२. वैयक्तिक स्वतन्त्रताका तत्व।

व्यक्तियोंको पारस्परिक अत्याचारोंसे बचाने वाले राज्य-नियम चिरकालसे भिन्न भिन्न देशोंमें प्रचलित थे। यह होना स्वाभाविक ही है क्योंकि राष्ट्रका उदय भी तो इसी बात-से हुआ था। समयान्तरमें ये राज्यनियम स्थिर किये गये। राज्योंने इनके सञ्चालनमें अधिक दृढ़तासे काम लिया और राष्ट्रमें प्रत्येक व्यक्तिको समान अधिकार दिये।

(१) राज्य-नियमोंका स्थिर होना (२) उनको दृढ़ता-पूर्वक चलाना (३) और राज्यका प्रत्येक व्यक्तिको एक दूसरेके समान समझना-यही तीनों बातें सामाजिक संगठन-की पूर्णताके चिन्ह हैं। वैयक्तिक स्वतन्त्रताका पूरे तौर पर संरक्षित रहना भी इन्हींकी पूर्णतापर निर्भर है।

राज्यके हस्तक्षेपोंसे वैयक्तिक स्वतन्त्रताको बचानेका यत्न कुछ ही समयसे शुरू हुआ है। अति प्राचीनकालमें राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति राज्योंके ही पास थी। दैवतन्त्र तथा स्वेच्छातन्त्र राज्योंमें प्रत्येक प्रकारकी वैयक्तिक कर्मण्यता राष्ट्रीय नियन्त्रणमें थी। मध्यकालमें ताल्लुकेदार लोग राष्ट्रके मालिक बन बैठे। धीरे धीरे उन्हींकी कृपापर वैयक्तिक स्वतन्त्रता निर्भर होने लगी। राज्यकी शक्तियाँ तो इसी जमानेमें परिमित की गयी हैं। राज्य-नियमोंके अनुसार राज्यकी शक्तियोंको बाधित कर वैयक्तिक स्वतन्त्रताको स्वरक्षित करना बिल्कुल नवीन घटना है। आज कल वैयक्तिक स्वतन्त्रता निम्नलिखित बातोंमें मानी जाती है।

(१) व्यक्तिका दास न बनाया जा सकना।

(२) राज्य-नियमोंके सम्मुख प्रत्येक व्यक्तिका समान होना।

(३) व्यक्तियोंकी संपत्तिकी रक्षा करना।

(४) विचार तथा सम्मति प्रगट करनेमें व्यक्तियोंको स्वतन्त्रता देना।

(५) आत्मिक विश्वासोंके अनुसार चलनेमें प्रत्येक व्यक्तिका स्वतन्त्र होना। धार्मिक स्वतन्त्रता इसीका एक फल है।

असली बात तो यह है कि यदि छोटे मोटे भेदोंका ख्याल न किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रताके मामलेमें प्रत्येक यूरोपीय मनुष्य एक दूसरेके समान है।

§६३. राजनीतिक स्वतन्त्रता।

राज्यकी प्रभुत्वशक्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रताका एक दूसरेसे न टकराना सुगम काम नहीं है। राष्ट्रकी यही विकट समस्या है। इसीके सरल होनेपर राष्ट्रमें शान्ति तथा उसकी स्थिति निर्भर रहती है। आदर्श राष्ट्र वही है जिसमें व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रता सुरक्षित हो, वैयक्तिक स्वार्थोंको पूरा होनेका काफी अवसर हो और साथ ही राज्यका नियन्त्रण भी कच्चा या अधूरा न हो। अर्थात् राज्य व्यक्तियोंको राज्य-नियमोंके अनुसार पूरी तरहसे चला सके। राष्ट्रकी स्थितिके लिये यह भी नितान्त आवश्यक है कि राज्य तथा नागरिकोंमें मतभेद बना रहे (?)। बहुत से राजनीतिक तरीके आज कल इसी लिये निकाले गये हैं कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा राज्यके अधिकारोंका पारस्परिक संतुलन चिरकाल तक बना रहे। परन्तु अभी तक सफलता नहीं प्राप्त हुई है। इसका परिणाम अभी तक यही हुआ है कि या तो राज्यका स्वेच्छाचार बढ़ गया या अराजकता ही उत्पन्न हो गयी।

अभी तक सबसे अधिक कामयाब तरीका यही है कि राष्ट्रीय प्रभुत्वशक्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रताका आधार एक ही संस्था रखीजाय। प्रतिनिधितन्त्र शासन-पद्धतिमें यही गुण विद्यमान है। इसके अनुसार जनता ही राज्य तथा राज्यनियमको बनाती है और साथ ही वैयक्तिक स्वतन्त्रताका भी ख्याल रखती है। प्रतिनिधितन्त्र राज्यमें भाग लेनेका नाम ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है। यह साधारण स्वतन्त्रतासे सर्वथा भिन्न है।

राजनीतिक स्वतन्त्रताने अर्वाचीन राजनीति शास्त्रको बहुत ही अधिक उन्नत किया है। रोमने यूरोपको बाह्य शत्रुओंसे बचाये रखा और उसमेंकी आन्तरीय शान्तिको भी नष्ट न होने दिया। प्रतिनिधि तन्त्र शासन प्रणालीका ज्ञान न होनेसे और स्थानीय राज्य तथा निर्वाचन सम्बन्धी संस्थाओंके विद्यमान न होनेसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता स्वरक्षित न थी और राज्य तथा व्यक्तियोंका पारस्परिक सम्बन्ध भी स्थिर न था। ट्यूटन लोगोंका यूरोप पर आक्रमण होते ही सारे यूरोपमें अराजकता फैल गयी तथा राजाओंका स्वेच्छाचार भी बढ़ गया, कहींपर एककी प्रधानता थी और कहीं पर दूसरेकी। १६ वीं सदीमें राज्यकी शक्ति बहुत ही अधिक बढ़ गयी। राजा तथा प्रजाका विरोध भी धीरे धीरे शुरू हो गया। यही कारण है कि उस जमानेके भयंकर विप्लवमें वैयक्तिक स्वतन्त्रताका प्रश्न हल न हो सका।

यूरोपमें १६ वीं सदीके बाद जनतामें राजनीतिक जागृति शुरू हो गयी। लोग राज्यमें भाग लेनेके लिये दिनपर दिन उत्सुक होते गये। इंग्लैण्डमें तथा उसके बाद यूरोपमें लोगोंने प्रतिनिधि तन्त्र राज्यको स्थापित किया।

कुछ ही वर्ष हुए कि राजनीतिज्ञोंको यह मालूम पड़ा कि प्रतिनिधितन्त्र राज्यमें भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता पूरी तरहसे स्वरक्षित नहीं रह सकती। इसीको स्वरक्षित रखनेके लिये 'शक्ति संविभाग सिद्धान्त' के अनुसार भिन्न भिन्न राष्ट्रोंकी शासन पद्धतियोंके बनानेका यत्न किया गया।

आज कल शीघ्र निर्वाचन, जन सम्मति विधि, स्थानीय स्वराज्य आदि अनेक विधियोंसे यूरोपीय जनता राज्यमें

अपना हाथ दिन पर दिन बढ़ाती जाती है। राज्य-नियमोंके लिखित तथा स्पष्ट हो जानेसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता बहुत कुछ सुरक्षित हो गयी है और राष्ट्रका संगठन भी किसी हद तक स्थिर ही हो गया है। अर्वाचीन राष्ट्र स्वतन्त्रता तथा प्रभुत्वशक्तिका संतुलन ऊपर लिखे तरीकोंसे ही करते हैं।

वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रताका क्षेत्र दिनपर दिन बढ़ता जा रहा है। राज्य मनुष्यमात्रकी रक्षा एक सदृश करता है। यूरोपीय राष्ट्रोंमें प्रत्येक गोरा मनुष्य नागरिक बन सकता है। निस्सन्देह एशियाके निवासियोंके साथ गोरे राष्ट्रोंका बर्ताव न्याययुक्त नहीं है।

राजनीतिक कार्य्यक्षमताके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि सारीकी सारी जनता सीधे तौरपर राजनीतिमें भाग न ले सके। जिनको राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो उनको शक्तिका भी भिन्न भिन्न दलोंमें बंटजाना प्रायः राष्ट्रकी उन्नतिमें बड़ा भारी भाग लेना है।

सारांश यह है कि राज्यनियमोंके सम्मुख प्रत्येक व्यक्तिके समान होते हुए भी राजनीतिक कार्य्यक्षमताके लिये यह आवश्यक है कि परिमित लोगोंको ही राजनीतिक अधिकार मिले।

नवां परिच्छेद ।

नियम

§ ६४. *<u>नियम शब्दका अर्थ</u>* ।

नियम शब्दका प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थोंमें किया जाता है। कभी कभी यह 'प्राकृतिक नियम या सांसारिक नियम' के समान भिन्न भिन्न प्रकारकी घटनाओं तथा उनके परिणामोंको प्रगट करनेका काम करता है। मनुष्योंके सदाचारनके लिये जिन जिन बातोंका निश्चय किया जाता है, वे भी नियमके नामसे पुकारी जाती हैं। सदाचार तथा धर्म सम्बन्धी नियम उसीके उदाहरण हैं। समाज तथा राज्य भी बहुतसे नियम बनाते हैं जिनपर प्रत्येक व्यक्तिको चलना पड़ता है। राजनीति शास्त्रका राज्य-नियमके साथ ही विशेष तौरपर सम्बन्ध है। महाशय हालैण्डके विचारमें 'राज्यनियम वे नियम हैं जिनको राष्ट्र बनाता है और जिनपर चलनेके लिये राष्ट्र व्यक्तियोंको बाध्य करता है'।

राजनीति शास्त्रमें 'नियम' का तात्पर्य सर्वथा स्पष्ट है। आजकल राष्ट्र नियम-निर्माणके द्वारा ही अपनी प्रभुत्वशक्तिको प्रगट करता है। यही कारण है कि नियम-निर्माणमें राष्ट्र-

की शक्ति अपरिमित तथा निर्बाध है। इसीके साथ साथ यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्रके सिवाय कोई दूसरा मनुष्य या संगठन राज्यनियमोंको नहीं बना सकता। इसमें सन्देह भी नहीं है कि बहुतसे विचारक इस बातको नहीं मानते हैं। संसारके सभी न्यायालय राष्ट्रीय नियमोंके सदृश ही देश-प्रथा, रीति-रिवाज आदिको भी न्याय करते समय प्रामाणिक मानते हैं, यही कारण है कि वे लोग राष्ट्रके सदृश ही देश-प्रथा तथा रीति-रिवाजको भी राज्य-नियमका स्रोत समझते हैं। परन्तु हमारे विचारमें यह बात ठीक नहीं है। राष्ट्रकी स्वीकृतिसे ही रीति-रिवाज तथा देश-प्रथा प्रामाणिक मानी जाती है। वे स्वतः प्रमाण नहीं हैं। अपितु, परतः प्रमाण हैं। महाशय हालण्डने ठीक कहा है कि 'संपूर्ण राज्यनियमोंका स्रोत एक मात्र राष्ट्र ही है। वही भिन्न भिन्न प्रकारके नियमोंको राजनीतिक रूप देता है।

समाजके अन्य नियमोंसे राज्यनियम इसीलिए विशेष हैं, क्योंकि उनका सञ्चालन राज्य द्वारा होता है। राज्य उनपर चलनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको बाधित करता है। राज्यके भिन्न भिन्न विभागोंको आज्ञाओंको भी राज्य-नियमही समझना चाहिये, क्योंकि राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिका कुछ भाग उनको प्राप्त है। यदि वह अपनी सीमा तथा शक्तिसे बाहर आज्ञाओंको निकालें तो वे राज्यनियम नहीं समझी जा सकती। सारांश यह है कि अपनी प्रभुत्व शक्तिकी सीमाका उल्लंघन न करते हुए भिन्न भिन्न विभागों-के निर्देश तथा आज्ञाएं राज्य-नियमका रूप धारण कर लेती हैं। राष्ट्रीय नियमोंके सदृश ही इनकी स्थिति होती है।

§ ६५. *नियमका स्रोत ।*

राष्ट्रके सदृश ही राष्ट्रीय नियमोंका विकास है। राष्ट्रीय नियम कैसे बने? यह इतिहासके द्वारा बड़ी सुगमतासे जाना जा सकता है। दृष्टान्त स्वरूपः—

(१) रीतिरिवाज—प्राचीनकालमें रीतिरिवाजको विशेष तौरपर मुख्यता मिली हुई थी। इसका एक कारण तो यह था कि प्राचीन पुरुषोंमें भक्ति तथा श्रद्धाका अंश विशेष तौरपर बढ़ा हुआ था। उनके पूर्वज जो कुछ काम कर गये उसको उन्होंने आदरकी दृष्टिसे देखना शुरू किया और उसीके अनुसार चलना आरम्भ किया। धीरे धीरे इस प्रकारके रीतिरिवाजोंने राज्यनियमका रूप धारण किया। न्यायालयोंने भी राज्यनियमोंके सदृश ही रीति-रिवाजोंको आदरकी दृष्टिसे देखना शुरू किया। इसीका दूसरा कारण यह था कि प्राचीन पुरुष शान्ति तथा स्थिरताके प्रेमी थे। नये नये राज्य-नियमोंको बनाकर अशान्ति बढ़ाना तथा झगड़ोंको उत्पन्न करना उनको पसन्द न था। लाचार होकर वे लोग पुराने समयसे चले आये नियमोंको ही आदरकी दृष्टिसे देखते थे और सामाजिक परिवर्त्तनोंके साथ ही साथ रीतिरिवाजोंको भी राज्य-नियमोंके उच्च पदपर पहुंचा देते थे।

आजकल समय बहुत ही बदल गया है। वैज्ञानिक उन्नतियोंके सहारे लोगोंने प्रकृतिपर किसी हद्द तक प्रभुत्व प्राप्त किया है। रेलों, तारों तथा वाष्पीययानोंके आविष्कारसे मनुष्यों तथा राष्ट्रोंका पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ हो गया है। इसीके साथ साथ प्राचीन धर्म्मों तथा मतों परसे लोगोंकी भक्ति भी उठ गयी है। एक तन्त्र राज्य,

पुराने रीति—रिवाज तथा स्मृति ग्रन्थोंको घृणाकी दृष्टि से देखते हुए लोग प्रतिनिधितन्त्र राज्यकी ओर झुक रहे हैं और राज्यनियमोंको समयके अनुकूल बनाते रहना ही उचित समझते हैं। वर्त्तमान कालकी नियामक या व्यवस्थापक सभाओंकी उन्नति तथा महत्वका रहस्य भी इसीमें छिपा है।

(२) नियमोंकी व्याख्या—पुराने राज्यनियमों और रीति-रिवाजोंके सदृश ही भिन्न भिन्न न्यायाधीशोंकी व्याख्याएँ भी राज्यनियमोंका ही रूप धारण कर लेती हैं। यह प्रायः देखा गया है कि बहुत सोच विचारके बाद बनाये हुए भी राज्य-नियम खास खास स्थानोंपर अपनी स्पष्टता छोड़ देते हैं। न्यायाधीशोंको राज्यनियमोंका तात्पर्य्य निकालना पड़ता है और उसी तात्पर्य्यके अनुसार निर्णय करना पड़ता है। समयान्तरमें छोटे छोटे न्यायालयों तथा न्यायाधीशोंको इस प्रकारकी व्याख्याएं तथा राज्यनियमोंके तात्पर्य्योंके अनुसार ही काम करना पड़ता है।

(३) वैज्ञानिक टीकाए—राज्यनियमों तथा रीति रिवाजोंकी भिन्न भिन्न व्याख्याएं तथा टीकाएं आजकल एक ग्रन्थके रूपमें छाप दी जाती हैं। न्यायाधीशोंको उन टीकाओंका विशेष तौरपर ख्याल रखना पड़ता है। यही कारण है कि उनको उन टीकाओंके अध्ययनमें अपना बहुत-सा समय खर्च करना पड़ता है। नये नये राज्यनियमोंको बनानेमें और पुराने राज्यनियमोंके संशोधनमें इनका भाग बहुत ही ध्यान देनेके योग्य है। इनके कारण राज्यनियमोंकी त्रुटियां दिनपर दिन दूर को जाती हैं।

(४) राज्य-नियमनिर्माण—नये नये राज्यनियमोंको व्यवस्थापक सभाओंके द्वारा बनानेका तरीका सर्वथा नवीन है। यूरोपमें ही यह शुरू हुआ था। आजकल भारतवर्षमें नये नये अत्याचारोंके करने तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रताको धूलमें मिलानेके लिये यही तरीका काममें लाया जाता है। रौलट एक्टका, बनना तथा इंडेमनिटी बिलका पास होना इसीका ज्वलन्त उदाहरण है। परन्तु यूरोपमें इसीसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता दिनपर दिन बढ़ी है। नये नये राज्यनियमोंको बनाकर लोगोंने निर्वाचनका अधिकार गरीबों तथा मेहनती मजदूरों तकको दे दिया है। राजनीतिज्ञ लोग यूरोपमें इसका विकास दो क्रमोंके द्वारा प्रगट करते हैं।

(क) नियामक संस्थाका स्वरूप—शुरू शुरूमें यूरोपके अन्दर शासक तथा पादरी लोग ही नये नये राज्यनियमोंको बनाते थे। राष्ट्रीय शक्ति तथा ईश्वरका प्रतिनिधि अपने आपको प्रगट करते हुए राजा तथा आर्चबिशप ही भिन्न भिन्न प्रकारके राज्यनियमोंको बनाते थे। रोम साम्राज्यमें सम्राट् ही मुख्य नियमनिर्माता था। जातीय राष्ट्रोंके उदय होते ही छोटे छोटे राजाओंने यही काम करना शुरू किया। देखते देखते ही बहुत सी गिल्डोंके प्रधानोंने भी राज्यनियम बनानेमें भाग लेना शुरू किया। जहां गिल्डोंकी संस्था मौजूद न थी और जो राष्ट्र अभीतक पूर्वदशामें ही मौजूद थे वहाँ भी छोटी छोटी जन-सभायें बन गयी थीं जो कि राज्यनियमोंके बनानेमें भाग लेती थीं। ग्रीस, रोमकी सभायें और ट्यूटन लोगोंकी मूट इसीके उदाहरण हैं। इंग्लैण्डकी व्यवस्थापक सभाका आधार भी इसी प्रकारकी मूटके साथ जुड़ा हुआ है।

(ख) नियमका स्वरूप—प्रारंभमें राज्य राष्ट्रीय नियमोंको ही बनाते थे। परन्तु स्थानीय निर्णयोंमें पुराने राज्यनियम तथा रीतिरिवाजोंका ही विशेष तौरपर भाग था। प्रतिनिधि तन्त्र राज्यके उदय होनेके बाद लोगोंमें राजनीतिक जीवन उन्नत हुआ। उन्होंने नियम निर्माणको अपने हाथोंमें किया। आजकल नियामक संस्थायें ही राज्य-नियमके स्रोत हैं। नये नये नियमोंके द्वारा रीति-रिवाजोंकी सत्ता ही मिटा दी गयी है। यह प्रवृत्ति इस हद तक बढ़ी है कि बहुत बार राष्ट्रकी शान्तिके भंग हो जानेकी ही संभावना हो जाती है।

साम्यवादी लोग इन नियामक संस्थाओंको अपने काबूमें कर, धनोंकी धन सम्बन्धी असमताको मिटाना चाहते हैं। कोई समय था जब कि यही नियामक संस्था इंग्लैण्डमें धार्मिक अत्याचारोंका साधन थी। क्या यह संभव नहीं कि साम्यवादी लोग इसीको अपना साधन बनाकर धनिकोंकी संस्थाको ही मटियामेट कर दें? उनका ख्याल है कि भारतकी स्वतन्त्रताका अपहरण इंग्लैण्डकी नियामक सभामें पूंजीपतियों तथा धनाढ्योंकी प्रबलताके कारण ही हुआ है। देखें संसारकी भिन्न भिन्न नियामक सभाएं आगे चलकर क्या रूप धारण करती हैं।

§६६ आधुनिक नियमोंका आधार।

यूरोपमें पांचवी सदीके अन्दर रोमन तथा ट्यूटॉनिक राजनीतिके परस्पर मिलनेसे आधुनिक राज्य-नियमोंका प्रादुर्भाव हुआ। शुरू शुरूमें ट्यूटन लोगोंके राज्य-नियम रोमन

लोगोंसे सर्वथा भिन्न थे। रोमनलोग शासकोंकी आज्ञाओंको ही राज्य-नियम समझते थे परन्तु ट्यूटन लोगोंमें यह बात न थी। उनमें भारतीयोंके सदृश देश-प्रथा तथा रीति-रिवाजकी ही प्रधानता थी। रोमन राज्य नियम राष्ट्रीय थे परन्तु ट्यूटानिक राज्य-नियम व्यक्तिगत थे। यही कारण है कि रोमन राज्य-नियम राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक बलके लिये समान थे परन्तु ट्यूटानिक राज्य-नियम भिन्न२ दलोंके लिये भिन्न भिन्न थे। ट्यूटन लोग जहां गये वहां अपने नियमोंको भी साथ लेते गये।

रोमन लोगों तथा ट्यूटन लोगोंके परस्पर मिलने ही बड़ी गड़बड़ी हुई। परस्पर विरोधी नियम एक ही राष्ट्रमें प्रचलित हुए। उनके गिल्ड तथा पुरोहित पादरी लोग अपने अपने नियमोंके द्वारा ही अपना शासन तथा निर्णय करते थे। परन्तु रोमन लोगोंमें यह बात न थी। वहां भिन्न भिन्न दलों तथा श्रेणियोंके लिये भी एक ही सदृश नियम थे। धीरे धीरे ट्यूटानिक राज्यनियमोंपर रोमनलोगोंका प्रभाव पड़ा। सैकड़ो स्थानोंके सहारे रोमन राज्य-नियम यूरोपमें प्रचलित किये गये। असभ्यलोगोंके शासकोंने बहुत समय पहले ही रोमन सिद्धान्तोंपर अपने कानूनोंको बनाया और एकत्र किया। विसिगाथ्सके राज्य-नियम इसीके उदाहरण हैं। यह संग्रह ही ग्यारहवीं सदी तक यूरोपके शासनका आधार था।

इटैलियन नगरोंने ग्यारहवीं सदीके अन्तमें बहुत उन्नति की। उनका व्यापार दूर दूर तक फैल गया। व्यवसायने भी विशेष उन्नति की। व्यापार-व्यवसायकी वृद्धिके साथ ही साथ इनमें लोकतन्त्र राज्य स्थापित हुआ। भिन्न भिन्न सभ्यता

वाले देशों पर साम्राज्यके होनेसे और एक नयी परिस्थितिमें काम करनेसे प्रचलित राज्य-नियमोंको बदलना उनके लिये आवश्यक हो गया। बालोन्या (Bologna) विश्वविद्यालयमें ही सबसे पहिले रोमन राज्य नियमोंका अध्ययन शुरू हुआ। यहांसे इटैलियन नगरोंमें और फिर स्पेन, पुर्तगाल तथा हालैण्डमें इसका प्रचार हुआ। इंग्लैण्ड भी इसमें अन्य देशोंसे पीछे न रहा। रोममें पढ़नेके लिये जाकर अंग्रेज लोग रोमन राज्य-नियमों तथा उनके आधारभूत सिद्धान्तोंको अपने साथ लाने लगे। आंग्ल राजाओंने भी उनको सहारा दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि रोमन सिद्धान्तोंके अनुसार राज्य-नियमोंका संशोधन करनेमें राजाकी शक्ति बहुत ही अधिक बढ़ जाती थी।

इस स्थानपर चर्चके प्रभावको भी न भूलना चाहिये। चर्चोंके अपने ही नियम तथा अपने ही न्यायाधीश थे। शिक्षणमें एक मात्र एकाधिकार होनेसे, शासकोंके सलाहकार तथा राज्य-नियमोंके ज्ञाता इन्हींके प्रभावमें होते थे। लैटिनके प्रचारने भी रोमन राज्य-नियमों तथा रोमन सिद्धान्तोंको इंग्लैण्डमें विशेष तौर पर प्रचलित किया।

सबसे बड़ी बात तो यह थी कि फ्यूडलिज्मसे छुटकारा पाते ही रोमन राज्य-नियमोंका अवलम्बन करनेके सिवाय और कोई भी संगठनका तरीका यूरोपीय राष्ट्रोंको न सूझा। राजाओंका संपूर्ण राष्ट्रीय शक्तिको अपने हाथोंमें करने, अपनी ही आज्ञाको राज्य-नियमका रूप देने और वकीलों, बैरिस्टरोंपर रोमन सभ्यताका भरपूर प्रभाव होनेका भी यही परिणाम हुआ कि रोमन राज्य-नियम तथा रोमन सिद्धान्त

ही यूरोपके संगठनके आधार बने। संवत् १८६१ (सन् १८०४) के नैपोलियनके कोडको भी न भूलना चाहिये। रोमन राज्य-नियम फ्रांसीसी रीति रिवाज, और फरांसीसी राज्यक्रान्तिके नियम तथा सिद्धान्तोंको मिलाकर यह कोड बनाया गया था। सारे यूरोप और स्पेनिश अमेरिकामें यही कोड प्रचलित हुआ।

इंग्लैण्डने अपना नया रास्ता हो लिया। इंग्लैण्डके राज्य-नियमोंका आधार ट्यूटानिक रीति रिवाज ही हैं। इसका यह मतलब नहीं कि इंग्लैण्ड रोमन राज्य-नियमों तथा सिद्धान्तोंसे सर्वथा ही बचा हुआ है। पूरी चार सदियों तक इंग्लैण्ड रोमका ही एक प्रान्त था। रोमन राज्य-नियम ही उसके शासन तथा न्यायका आधार थे। मध्य-कालमें इंग्लैण्डके पादरी रोमके अन्दर पढ़नेके लिये जाते थे और वहांसे रोमन विचारोंको अपने साथ ले आते थे। यह सब होते हुए भी इंग्लैण्डके राज्य-नियमोंमें ट्यूटानिक रीति-रिवाजोंका मुख्य भाग है। संयुक्त प्रान्त अमेरिका इंग्लैण्डका ही एक उपनिवेश था, यद्यपि आज कल वह स्वतन्त्र है तो भी उसकी सभ्यता अंग्रेजोंकी ही सभ्यता है। वहांके राज्य-नियम इंग्लैण्डके राज्य-नियमके ही प्रतिबिम्ब हैं। उनपर ट्यूटन जातिकी छाप बनी है।

इंग्लैण्डके राज्यनियमोंमें दो समय विशेष परिवर्तन हुए। एक तो उस समय जबकि सर्व राज्य पृथक् न रहकर राष्ट्रीय राज्यमें ही मिल गया और दूसरा उस समय जबकि प्यूरिटन लोगोंने अपने विचारोंको राज्य-नियमोंके अदल-बदलमें आधार बनाया। इन सब परिवर्तनोंके होते हुए भी

इंग्लैण्डके राज्य नियमोंका आधार ट्यूटानिक रीति-रिवाजों-पर ज्योंका त्यों बना रहा । आधारमें फरक न पड़ा ।

सारांश यह है कि राष्ट्रीय नियमोंमें ट्यूटानिक सिद्धान्त और साधारण नियमोंमे रोमन सिद्धान्त ही मुख्य रहे । स्थानीय स्वराज्य तथा पञ्चायती राज्य यूरोपमें न शुरू होता यदि ट्यूटन लोग अपना सब कुछ खो देते और रोमन रंगमें पूरे तौरपर रंगजाते, परन्तु उन्होंने ऐसा न किया । उन्होंने अपनी राजनीति तथा शासन प्रणालीको रोमन सिद्धान्तोंके सहारे उन्नत किया। उनने अपनी ही नीव पर अपनी ही ईंटोंको रोमन चूनेसे जोड़कर बहुत ही खूबसूरत महल खड़ा किया। नागरिक प्रबन्ध तथा औपनिवेशिक शासनकी उन्नति भी रोमन सिद्धान्तोंके सहारे ही की गयी । ट्यूटन लोग इन्हीं बातोंमें रोमनलोगोंसे बहुत पीछे थे। नगरके प्रबन्धमें रोमन लोग बहुत आगे बढ़ चुके थे। मध्यकालमें ज्योंही यूरोपीय नगरोंने अपना सिर ऊपर उठाया-रोमन शासनप्रणाली उनमें प्रचलित हो गयी । उपनिवेशोंके बढ़नेपर यूरोपीय राष्ट्रोंको पुनः रोमकी शासन प्रणालीका सहारा लेना पड़ा ।

§६७ अधिकार

राज्यनियम राष्ट्रीय इच्छाओंके ही प्रतिबिम्ब हैं । राष्ट्र स्पष्ट तौरपर यह प्रगट कर देता है कि वह किन किन वैयक्तिक अधिकारोंकी रक्षा करेगा और किन किन नियमोंपर चलनेके लिये उनको बाधित करेगा । इस विषय पर विचार करनेके लिये निम्नलिखित बातोंको सामने रखना चाहिये ।

(क) कौन कौन मनुष्य राज्यके अधिकारोंसे लाभ उठा

रहे हैं और किन किन मनुष्योंको इस प्रकारके अधिकार प्राप्त हैं?

(ख) कहां कहांपर राज्याधिकारका मुख्यतः प्रयोग किया जाता है?

(ग) किस प्रकारके मनुष्य क्षमाके योग्य हैं?

(घ) क्षमा करना या अपराध माफ करना किसका कर्त्तव्य है?

गम्भीर विचार करनेपर यह मालूम पड़ता है कि—

(१) व्यक्ति—मनुष्य, मनुष्यसंघ तथा संचित सम्पत्ति उस समय कृत्रिम पुरुष (Artificial persons) के नामसे पुकारी जाती हैं जब कि उनको राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं या राज्यके द्वारा विशेष तौरपर उनकी रक्षा की जाती है।

(२) वस्तु—स्थिर संपत्ति तथा वैयक्तिक जायदादोंको ही पदार्थ समझना चाहिये। राज्य ऐसे ही पदार्थोंकी रक्षा करता है। इनकी रक्षामें वह अपने राज्याधिकारको काममें लाता है।

(३) खास खास मामलों तथा घटनाओंमें राज्य अपराध माफ कर देता है। पागलों तथा रोगियोंके मामलेमें इसी प्रकारकी बातें आम तौरपर की जाती हैं।

§६८ राज्यनियमका विभाग

राज्यनियमका वर्गीकरण भिन्न भिन्न लेखकोंने भिन्न भिन्न आधारपर किया है। निम्नलिखित वर्गीकरण सबसे श्रेष्ठ है।

(१) राज्यनियमोंका स्वरूप—आजकलके राज्यनियमोंपर यदि गम्भीर तौरपर विचार किया जाय तो निम्नलिखित बातें सामने आती हैं।

(क) व्यवस्थापक सभाओंके द्वारा जो प्रस्ताव पास किये जा चुके हैं वे राज्यनियम (statutes) के नामसे पुकारे जाते हैं।

(ख) जो राज्यनियम कुछ हो समयके लिये बनाये जाते हैं वे सामयिक राज्यनियम (ordinances) के नामसे पुकारे जाते हैं।

(ग) वे रीति रिवाज तथा प्राचीन कालसे चले आये नियम जिनके अनुसार न्यायालय तो निर्णय करता है और जो कि व्यवस्थापक सभाओंके द्वारा नियमपूर्वक पास नहीं किये गये वे दैशिक नियम या साधारण नियम (Common law) के नामसे पुकारे जाते हैं।

(घ) आजकल भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें कुछ ऐसे भी राज्य-नियम प्रचलित हैं जो कि बहुत कुछ स्थिर हैं और जिनमें राज्य, शासन-प्रणाली तथा राज्यांगोंके अधिकारोंका विशेष तौरपर वर्णन है। ऐसे राज्यनियमोंको शासन पद्धतीय नियम तथा शासन पद्धति की धाराओं (Constitutional law) का नाम दिया जाता है।

(२) राज्य नियमोंका सम्बन्ध—राज्यनियमोंका सम्बन्ध किससे है? इस विचारसे राज्यनियमोंका वर्गीकरण इस प्रकार किया जासकता है।

(क) राष्ट्रीय नियम—राष्ट्रीय नियम वे हैं जो व्यक्ति तथा राष्ट्रके सम्बन्धको नियमित करते हैं।

(ख) वैयक्तिक नियम—वैयक्तिक नियम वे हैं जो व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धको प्रकट करते हैं।

राष्ट्रीय नियमोंको राष्ट्र ही बनाता है। राष्ट्र उन व्यक्तियोंको दण्ड देता है जो उसके नियमोंको तोड़ते हैं। परन्तु यदि राष्ट्र स्वयं वैयक्तिक स्वतन्त्रताको पैरों तले कुचले तो व्यक्ति राष्ट्रकी स्वीकृतिसे ही अपनी स्वतन्त्रताको स्वरक्षित रख सकते हैं। राष्ट्रके विरुद्ध व्यक्तियोंका कुछ भी अधिकार नहीं है। राष्ट्रीय नियमोंके अत्यन्त प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण उपभेद निम्न लिखित हैं:—

(१) शासन पद्धतीय नियम—राष्ट्रके संगठन तथा राज्यकी शक्तियोंका निर्देश शासनपद्धतीय नियमों (Constitutional law) के द्वारा ही होता है। इन्हीं नियमोंसे प्रभुत्वशक्तिका स्थान नियत किया जाता है। यदि ये नियम न हों तो प्रभुत्वशक्तिका स्थान पूर्ण तौरपर और स्पष्ट तौरपर न जाना जासके।

(२) शासकीय नियम— शासन पद्धतीय नियमोंका प्रयोग राज्य किस प्रकार करे और किस प्रकार करे इसका निर्णय शासकीय नियम (Administrative law) ही करते हैं। गुडनाऊने ठीक लिखा है कि "संगठन तथा शासकोंको कार्य क्षेत्रको नियत करनेवाले और व्यक्तियोंको अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षाका मार्ग दिखानेवाले यदि कोई नियम हैं तो वे शासकीय नियम ही हैं।"

(३) दण्ड सम्बन्धी नियम—शान्ति तथा व्यवस्थाको स्वर

क्षित रखनेके लिये राज्य भिन्न भिन्न अपराधियोंको दण्ड देता है। दण्ड सम्बन्धी राज्यनियम आजकल फौजदारी कानूनके नामसे पुकारे जाते हैं।

दण्ड सम्बन्धी नियमोंका आविष्कार यूरोपमें बहुत प्राचीन नहीं है। शुरू शुरूमें वहां खास खास नियमोंके द्वारा ही राज्यापराधियोंका दण्ड दिया जाता था। व्यक्तियोंके प्रति जो लोग अपराध करते थे उनके मामलेमें राज्यनियम बहुत कुछ उदासीन थे। न्यायाधीश लोग रुपये दिलाकर या अन्य किसी विधिसे वादी प्रतिवादीका आपसमें समझौता करा देते थे। कभी द्वन्द्वयुद्ध भी कराया जाता था और जो जीतता था वही सच्चा समझा जाता था। धीरे धीरे यूरोपमें बहुतसे राज्यनियम बने जिनके सहारे आजकल अपराधियोंके दण्डका निर्णय किया जाता है। भारतमें बहुत समय पूर्व ही दण्ड सम्बन्धी राज्यनियम बन चुके थे। निस्सन्देह भारतमें भी एक जमाना था जब कि व्यक्तियोंके निर्णय द्वन्द्व युद्धके द्वारा और अपराधियोंके अपराधकी पहिचान अग्निशुद्धि या गरम लोहे से की जाती थी। महाभारतके युद्धके बाद भारतीय समाजमें स्थिरता तथा शान्तिके बढ़नेसे दण्ड सम्बन्धी राज्यनियम बने जो भिन्न भिन्न स्मृति ग्रन्थों तथा धर्मसूत्रोंमें पाये जाते हैं।

ऊपर लिखे वैयक्तिक नियमोंका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। हिन्दोमें ये ही दीवानी नियमोंके नामसे पुकारे जाते हैं। व्यापार, व्यवसाय साझा ठेका, धनका बटवारा आदिके विषयमें उठे झगड़ोंका निर्णय इन्हीं नियमोंके आधारपर किया जाता है।

एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रके साथ किस प्रकारका व्यवहार हो और किन किन बातोंमें एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके अन्दर हस्तक्षेप नहीं कर सकता है, इत्यादि बातोंका निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय नियमों (International law) के द्वारा किया जाता है। यूरोपीय राजनीतिज्ञ इनको नियमोंकी श्रेणीमें नहीं रखते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वे राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिको अपरिमित तथा निर्बाध समझते हैं। राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्ति अन्दर तथा बाहरसे पूरे तौरपर स्वतन्त्र है। प्रजाका यदि कोई भी व्यक्ति राष्ट्रकी प्रभुत्वशक्तिको कम करना चाहे तो कम नहीं कर सकता। इसी प्रकार बाहरका कोई विदेशीय राष्ट्र भी राष्ट्रकी प्रभुत्व-शक्तिको किसी प्रकारके भी नियमसे बाधित नहीं कर सकता। इस हालतमें आधुनिक राजनीतिज्ञोंका अन्तर्राष्ट्रीय नियमोंको राज्यनियम न समझना किसी हद्द तक ठीक ही है।

§६६ *धर्म्म तथा नियम।*

सदाचार सम्बन्धी नियम या धर्म्म और राज्य-नियममें बड़ा भेद है। धर्म्ममें व्यक्तियोंका आत्मिक विश्वास और राज्य-नियममें राष्ट्रकी इच्छा ही मुख्य है। धर्म्मका मनुष्यके प्रत्येक प्रकारके कामसे सम्बन्ध है। मनुष्य क्या करे? क्या न करे? किधर जावे? किधर न जावे? इत्यादि बातोंका निर्णय धर्म्म ही करता है। राष्ट्र तो उन्हीं मामलोंमें हस्तक्षेप करता है जिनसे समाजको नुक्सान पहुंचनेकी संभावना होती है। यही कारण है कि बहुतसी ऐसी बातें हैं जिनका धर्म्म तो निषेध करता है, परन्तु राज्य उनके विषयमें सर्वथा ही उदासीन है। शपथ खाकर पुनः असत्य

काम करना धर्म्म की दृष्टि से घृणित है, धर्म्म इसका निषेध करता है, परन्तु राज्य-नियम इस विषयमें मौन है। कमीनापन, ईर्षा, द्वेष, अकृतज्ञता आदिके लिये राज्य किसी भी व्यक्तिको दण्ड नहीं देता है। धर्म्म इनको बुरा समझता है और लोगोंको इन बातोंके करनेसे रोकता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। ऐसा भी प्रायः देखा गया है कि जो बात धार्मिक विचारसे कुछ भी बुरी नहीं है राज्य उसे करनेसे व्यक्तियोंको रोकता है। बहुत तेजीके साथ मोटर चलाना कुछ भी बुरा नहीं है परन्तु घनी आबादी वाले शहरमें और मनुष्योंसे खचाखच भरी सड़कपर बहुत तेजीसे मोटर चलाना मनुष्योंके लिये प्राणघातक हो सकता है। यही कारण है कि राज्य-नियमोंके द्वारा ऐसा करना रोका गया है। धर्म्म तथा राज्य-नियमका सबसे स्पष्ट भेद उस समय मालूम पड़ता है जबकि बहुतसे धर्म्मात्मा लोग फांसीपर चढ़ना पसन्द कर लेते हैं परन्तु बुरे या घृणित राज्य-नियमोंपर चलकर अपनी आत्माका हनन करना पसन्द नहीं करते हैं।

राज्य नियम तथा धर्म्ममें बहुत कुछ समानता भी है। शुरू शुरूमें तो धर्म्म तथा राज्य-नियमके अन्दर कुछ भी भेद न समझा जाता था। धर्म्मसे राज्य-नियम जब पृथक् भी किये गये तो भी चिरकालतक उनकी पारस्परिक समानता नष्ट न हुई। गम्भीर तौरपर विचार किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि धर्म्म या सदाचारके सिद्धान्त ही राज्य नियमके स्रोत हैं। इन्हीं सिद्धान्तोंको आधार बनाकर ही राज्य-नियम बनाये गये हैं। किसी राज्य-नियमका आधार न्याय-सिद्धान्तपर और किसीका

समानता-सिद्धान्तपर है। बच्चों तथा स्त्रियोंको कारखानेमें काम करनेसे रोकनेका रहस्य भी बहुत कुछ इसीमें छिपा है। वास्तविक बात तो यह है कि समाजमें वेही राज्यनियम चिरकालतक चल सकते हैं जो सदाचारके सिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं होते।

दसवां परिच्छेद

अन्तर्जातीय राज्यनियम

§७०. *अन्तर्जातीय राज्यनियमोंका विभाग।*

राष्ट्रोंका पारस्परिक सम्बन्ध दिखाते हुए यह प्रगट ही किया जा चुका है कि युद्ध तथा शान्तिके समय राष्ट्रोंके पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न भिन्न हो जाते हैं। अन्तर्जातीय राज्यनियमोंपर विचार करते समय भी इसी बातपर ध्यान रखना आवश्यक है। भिन्न भिन्न स्थितिको सामने रखते हुए अन्तर्जातीय राज्य-नियम तीन प्रकारके हैं।

(१) एक तो वे हैं जो शान्तिके समयमें राष्ट्रोंके पारस्परिक सम्बन्धका स्थिर रखते हैं।

(२) दूसरे वे हैं जो युद्धके समयमें राष्ट्रोंको किन किन बातोंका उल्लंघन न करना चाहिये इस बातको दिखाते हैं।

(३) तीसरे वे हैं जो उदासीन राष्ट्रोंके साथ क्या सम्बन्ध है इसको प्रगट करते हैं। अशान्तिके समयमें अन्तर्जातीय नियमोंका आधार निम्नलिखित है।

(१) स्वतन्त्रताके सम्बन्धमें
(२) समानताके सम्बन्धमें
(३) सम्पत्तिके सम्बन्धमें
(४) अपराध-निर्णयके सम्बन्धमें
(५) राजनीतिके सम्बन्धमें

साधारण नियम

युद्ध तथा उदासीनताके विषयमें जो अन्तर्जातीय नियम हैं वे 'असाधारण नियम' के नामसे पुकारे जाते हैं। दृष्टान्त स्वरूप—

(६) युद्धके विषयमें अन्तर्जातीय राज्य नियम
(७) उदासीनताके विषयमें अन्तर्जातीय राज्य नियम
(८) व्यापार सम्बन्धी विषयमें
} असाधारणनियम

§७१. (१) स्वतन्त्रताके सम्बन्धमें ।

राष्ट्रोंकी प्रभुत्वशक्ति अपरिमित तथा निर्बाध है । इसीसे यह परिणाम भी निकला कि प्रत्येक राष्ट्रका यह नैसर्गिक अधिकार है कि वह स्वतन्त्र रहे । सभ्य संसारसे वैयक्तिक दासता दूर की गयी। इस हालतमें राष्ट्रीय दासता कैसे उचित समझी जा सकती है ? यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्रको अपने अन्तरीय प्रबन्ध तथा शासनमें पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये । हस्तक्षेप न करनेकी नीतिपर ही प्रत्येक राष्ट्रको एक दूसरेसे सम्बन्ध रखना चाहिये ।

बहुत बार यह देखा गया है कि विजयी राष्ट्र पराजित राष्ट्रोंको मनमाने ढंगपर लूटनेका यत्न करते हैं । रूम (टर्की) के साथ इस महायुद्धमें जो व्यवहार किया गया है वह अत्यन्त घृणित तथा शोकजनक है । रूम सन्धिकी शर्तें एक प्रकारसे उक्त राष्ट्रको नेस्तनाबूद करनेवाली हैं। भारतीयोंको निःशस्त्र करना और उनपर मनमाने ढंगपर शासन करना कभी भी उचित प्रगट नहीं किया जा सकता। पंजाबका कत्लेआम और आंग्ल जनताका उसको

उचित ठहराना इस बातका साक्षी है कि मनुष्य समाज लोभ तथा स्वार्थने कहां तक गिर सकता है।

सारांश यह है कि युद्धमें चाहे कोई राष्ट्र जीते और चाहे कोई राष्ट्र हारे—यह किसी भी राष्ट्रका अधिकार नहीं है कि वह किसी भी पराजित राष्ट्रकी स्वतन्त्रताका अपहरण करे या उसका अंगभंग करे। परन्तु आजकल यूरोपीय राष्ट्र एशियाके राष्ट्रोंके साथ इसी प्रकारका अन्यायपूर्ण व्यवहार करते हैं। भारतकी विजय, शत्रुको निःशस्त्र करना, मिश्रको चुपके चुपके ही हडप जाना, टर्कीका अंगभंग इसीके उदाहरण हैं। इस प्रकारके अन्यायपूर्ण कामको राजनीति शास्त्रज्ञ 'हस्तक्षेप' (Intervention) के नामसे पुकारते हैं। इस शब्दका प्रयोग अन्य कई अर्थोंमें होनेसे हम इसको आगे चलकर अधिकार-अपहरण (Intervention) के नामसे लिखेंगे।

अधिकार-अपहरण सम्बन्धी निम्नलिखित नियम आज कल प्रचलित हैं।

(क) आत्मरक्षा सम्बन्धी नियमः—प्रत्येक राष्ट्रका जीवित रहना आवश्यक है। यदि कोई राष्ट्र किसी राष्ट्रके अन्तरीय मामलोंमें हस्तक्षेप करे और वह हस्तक्षेप इस हद तक प्रबल हो कि इससे राष्ट्रको प्रभुत्व-शक्तिका तिरस्कार होता हो तो उस हालतमें युद्ध न्याययुक्त है।

(ख) सन्धिकी शर्तोंपर चलनाः—यदि कोई राष्ट्र सन्धिकी शर्तोंको तोड़े तो युद्ध आवश्यक हो जाता है। शोककी बात तो यह है कि आजकलके राजनीतिज्ञ इस

बातका बिल्कुल भी ख्याल नहीं रखते हैं कि वे शर्तें न्यायपूर्ण हैं या नहीं? कोई राष्ट्र कितने वर्षोंतक पराधीन रखा जा सकता है? वास्तविक बात तो यह है कि अभीतक राष्ट्रोंमें वही पाशविक शक्ति-सिद्धान्त (might is right) प्रचलित है।

(ग) परराष्ट्रमें अनुचित हस्तक्षेप—आत्म रक्षणके सदृश ही मित्र राष्ट्रके संरक्षणके लिये कोई भी राष्ट्र अपनी राजनीतिक शक्तिका प्रयोग कर सकता है। आधुनिक राष्ट्र इस बातमें अपना अधिकार समझते हैं। कभी कभी तो यह अधिकार इस सीमा तक काममें लाया जाता है कि वह कभी भी न्यायानुकूल नहीं सिद्ध किया जा सकता। इंग्लण्डका यूरोपमें शक्ति सतुलन सिद्धान्तके अनुसार भिन्न भिन्न लड़ाइयोंमें पड़ना और अपना स्वार्थ सिद्ध करना कभी भी यूरोपके लिये हितकर सिद्ध नहीं हुआ। इंग्लैण्डके स्वार्थमय कूट उद्देश्योंका ही यह फल है कि यूरोप आज तक एक राष्ट्र न बन सका। इस भयंकर पांच सालके युद्धके बाद इंग्लैण्डने आत्मनिर्णय-सिद्धान्तका ढकोसला रचा है। इससे आस्ट्रिया, हंगरी, जर्मनी तथा टर्कीके साम्राज्य बहुत सी छोटी छोटी रियासतोंमें बंट कर छिन्न हो जायंगे। इंग्लैण्डकी शक्ति इससे बहुत ही अधिक बढ़ जायगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। असली बात तो यह है कि आधुनिक राष्ट्र प्रत्येक अच्छी से अच्छी बातको अपने कूट उद्देश्योंका साधन बनाते हैं। यह भी इसी लिये कि ऊपरसे उनका कार्य्य न्याययुक्त मालूम पड़े और किसको भी कोई बात कहनेका मौका न मिले।

आज कल यूरोपीय राष्ट्रोंने एक नये ढंगके हस्तक्षेपका आविष्कार किया है। उन्होंने अपने ऋणके भारको कम करनेके लिये अमेरिकाकी दक्खिनी रियासतोंको भी ऋण सम्बन्धी धन देनेके लिये कहा। इससे बहुत ही अधिक विक्षोभ बढ़ा। अन्तमें इस प्रकारके झगड़ोंका निर्णय हेगकी अन्तर्जातीय समितिने अपने हाथमें ले लिया।

पराधीन राष्ट्रोंमें तो यूरोपीय राष्ट्रोंका हस्तक्षेप अत्यंत घृणित है। उनकी सम्पत्तिको अनेक तरीकोंसे ये लोग लूटते हैं। उठती हुई जातियोंका गला घोंटना और अपने एक दो आदमियोंके मर जानेपर (चाहे उन्होंने राष्ट्रीय नियमोंको कितना ही क्यों न तोड़ा हो) एशियाटिक राष्ट्रोंकी जमीनों, खानोंको हरजानेके तौरपर हथिया लेना और अफीम खिलानेके लिये युद्ध करना आदि अनेकों प्रकारके हस्तक्षेप हैं जिनको कि कोई आत्मसम्मान वाला राष्ट्र सहन नहीं कर सकता और जो किसी भी सदाचारके सिद्धान्तसे न्याययुक्त नहीं ठहराये जा सकते। एशियाटिक राष्ट्र दुर्बल तथा निःशक्त हैं। इसी कारणके लिए उनका अन्याय सहना पड़ रहा है।

२७२. ( ) [illegible]

आधुनिक मतानुसार राष्ट्रोंके अधिकार सब बातोंमें समान हैं। अन्तर्जातीय राज्यनियमोंके अनुसार कोई भी राष्ट्र किसी स्वतन्त्र राष्ट्रको दबा नहीं सकता और न अपनी इच्छाके अनुसार चलनेपर ही बाधित कर सकता है। यह सब होते हुए भी ग्रेटब्रिटन, फ्रान्स, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया

तथा इटलीने आपसमें मिल कर एशियाटिक स्वतन्त्र राष्ट्रों-को स्वतन्त्रताको नष्ट करनेकी चाल न छोड़ीं। पराधीन राष्ट्रोंके साथ इनका कैसा व्यवहार है उसको देखने वाला कोई भी नहीं है। पञ्जाबके कत्लेआमको आंग्ल प्रजाका उचित ठहराना और डायरके लिये सहायतार्थ फण्ड खोलना इस बातका साक्षी है कि यूरोपीय राष्ट्र पराधीन राष्ट्रोंको क्या समझते हैं। ईरानको रूस तथा ग्रेट ब्रिटनने चुपके चुपके ही बाट लिया। इसके बाद स्वतन्त्र ईरानका पराधीन करने तथा दासतामें जकड़नेका तद्बीरें की जाने लगीं। ये सब घटनायें इस बातके उदाहरण हैं कि राज्य-नियमकी किताबोंमें चाहे कुछ ही क्यों न लिखा हो परन्तु कार्य्य रूपमें सब राष्ट्रोंके अधिकार समान नहीं हैं और एशियाटिक स्वतन्त्र राष्ट्रोंके साथ कौन यूरोपीय राष्ट्र कैसा अत्याचार करता है इसकी किसीको कुछ भी चिन्ता नहीं है।

संयुक्त प्रान्त अमरीका सारेके सारे अमरीका महाद्वीपका भाग्य निर्णायक है। अपनी इच्छाओंके अनुसार ही वह अमरीकन राष्ट्रोंको चलाता है। परन्तु कोई भी सभ्य राष्ट्र उसके इस हस्तक्षेपमें चूं चां नहीं करता है।

१७३. (३) सम्पत्तिके सम्बन्धमें।

आधुनिक राष्ट्रोंके पास बहुत ही अधिक संपत्ति है। राष्ट्रीय मकान, युद्ध-सामग्री, जहाज़ आदिका प्रबन्ध उनको करना पड़ता है। साधारण तौरपर तो उनका प्रयोग राष्ट्रीय नियमोंके द्वारा ही होता है। युद्ध-कालमें उनको अन्तर्जातीय नियमोंका ख्याल रखना पड़ता है। शान्तिके

समयमें राष्ट्रोंकी खास खास प्रकारकी स्थिर संपत्तिपर अन्तर्जातीय नियम ही लागू होता है। दृष्टान्त स्वरूप भूमि तथा समुद्रको ही लीजिये। यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि भौमिक संपत्ति या भूमि राष्ट्रका प्रधान अंग है। आजकल कोई ऐसा राष्ट्र नहीं जिसके पास भूमि न हो। यहांपर जो कुछ प्रश्न उठता है वह यही है कि (क) राष्ट्रकी भूमिमें क्या क्या सम्मिलित है? (ख) भूमि किस प्रकार प्राप्तकी जा सकती है? (ग) राष्ट्र भूमिपर किस प्रकार नियन्त्रंण रख सकता है?

(क) राष्ट्रीय भूमिमें निम्न लिखित पदार्थ सम्मिलित हैं।

(१) राष्ट्रके अन्दर जो भूमि तथा जल हो वह सब राष्ट्रकी सम्पत्ति है। यदि दो राष्ट्रोंके बीचमें झील या नदी पड़ती हो तो राष्ट्रों की सीमा नदी या झीलके बीचतक समझी जायगी। खास खास प्रकारकी सन्धियों के द्वारा यह बात हटायी भी जा सकती है। एक राष्ट्रकी सीमा सन्धिके द्वारा नदी तथा झीलके पारतक पहुंच सकती है।

(२) किनारेसे तीन मील दूरतकका समुद्र राष्ट्रकी सीमामें ही समझा जाता है। प्राचीन तथा मध्यकालमें तोपोंकी मार बहुत दूरतक न थी। एक सदी पूर्व यह मार केवल तीन मीलतक थी। उसीके आधारपर समुद्रमें राष्ट्रकी सीमा तीन मीलतक नियत की गयी है। इसी हद्दके बीचमें राष्ट्र अपने सामुद्रिक नियमोंको काममें लाते हैं और अपने बन्दर-गाहों की रक्षा करते हैं। राष्ट्रों का विचार है कि यह हद्द तीन मील तक न होकर १२ से १५ या २० मील दूरतक हो जानी चाहिये, क्योंकि आजकल तोपोंकी मार इतनी

अधिक दूरतक पहुंच चुकी है। अन्तर्जातीय सभाने महायुद्धसे पूर्व पूर्वतक इन शर्तोंमें किसी प्रकारका भी फेरफार न स्वीकृत किया।

(३) समुद्र तटवर्ती खाड़ियां भी राष्ट्रकी ही संपत्ति हैं। खाड़ियोंका विस्तार नियत न होनेसे कई राष्ट्रोंने दूर दूरतक फैली हुई खाडियोंपर भी अपना ही प्रभुत्व स्थापित किया है।

(४) समुद्रके आसपासके द्वीप-समूहोंपर भी राष्ट्रका ही स्वत्व है। इस स्वत्वमें भिन्न भिन्न राष्ट्र यह युक्ति पेश करते हैं कि उनके आत्म संरक्षणके लिये यह आवश्यक है कि द्वीप-समूहोंपर उन्हीं राष्ट्रोंका स्वत्व हो जो उनके पास हों।

(ख) राष्ट्र भूमिको निम्नलिखित प्रकारसे प्राप्त करते हैं —

१ कब्जा —जिन भूमियोंपर किसीका भी कब्जा न हो वह राष्ट्रकी भूमि है। अफ्रिकाके जंगलोंमे यूरोपीय लोग बस गये। उन्होंने वहां अपना कब्ज़ा कर लिया। अब वह भूमि उन्हींकी समझी जाती है। इस प्रकार भूमि प्राप्त करनेका एक मुख्य साधन कब्जा कर लेना है।

२ प्रदान —सन्धिके द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको अपनी भूमि प्रदान कर सकता है। इस प्रकार प्रदान भी भूमि प्राप्त करनेका साधन है।

३ विजय —विजय भूमि प्राप्त करनेका एक साधारण तरीका है। आम तौरपर जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको जीतता है तो उसकी बहुतसी भूमि छीन लेता है। यूरोपीय राष्ट्रोंने विशेषतः ग्रेटब्रिटनने टर्कोंके साथ यही व्यवहार किया है।

४. नयी भूमिकी उत्पत्ति —समुद्र तथा नदियोंके द्वारा प्रायः

नयी नयी भूमिया बनती हैं। कई राष्ट्रोंको बहुतसे द्वीप इसी प्रकार प्राप्त हुए हैं।

(ग) राष्ट्र अपनी भूमिपर निम्न लिखित प्रकार नियन्त्रण करता है।

(१) जिन भूमियोंपर राष्ट्रका प्रभुत्व है राष्ट्र सीधे ही उन का शासन करता है। इसमें सन्देह भी नहीं है कि वह प्राय अपनी प्रभुत्वशक्तिको कई भागोंमे विभक्त कर देता है। स्थानीय तथा औपनिवेशिक राज्योंका विभाग इसीका उदाहरण है।

(२) प्रबल राष्ट्र कमजोर राष्ट्रोंका सरक्षण सन्धिके द्वारा तथा अपने प्रतिनिधिके द्वारा करते हैं जो रेसीडन्टके नामसे भारतमें पुकारा जाता है। नपालके साथ भारत सरकारका सम्बन्ध इसी प्रकारका है। ऐसी रियासतें अन्तरीय प्रबन्धमे सवथा स्वतन्त्र होती हैं। भारतीय देशी रियासतोंकी हालत तो बहुतही शोकजनक है। कोई अच्छे काम तथा राष्ट्रकी वृद्धि करनेम असमर्थ होकर और विजय तथा राज्य नाशकी चिन्तासे मुक्त होकर देशी रियासतोंके राजा-लोग प्रायः भाग-विलासमें हो जीवन व्यतीत करते हैं। रियासतका रुपया पानीकी तरह अंग्रेज शासकोंपर बहाया जाता है। वे लोग खूब धन बटोरकर अपने घरको जाते हैं। उन्नतिकी चेष्टा करना देशी रियासतोंके लोगोंके लिये असम्भव है, क्योंकि अपनी प्रजाके साथ वे लोग क्रूरसे क्रूर व्यवहार करनेके लिये तय्यार हैं। अंग्रेजी राज्यमें राजनीतिक जीवनकी आभा जनताम मिलती है परन्तु देशी रियासतोंमे इसका कहींपर भी पता नहीं चलता। देशीराजा अंग्रेजोंसे बहुत डरते हैं। उनको राज्य छिन

आनेका भय दिनरात कँपाया करता है। इस हालतमें अपनी जनतामें राजनीतिक जीवनका आना उनको कब स्वीकृत हो सकता है ?

(३) जिन देशोंमें असभ्य जङ्गलीलोगोंका निवास है उनपर यूरोपीय राष्ट्रोंने अपना प्रभुत्व स्थापित किया है। भिन्न भिन्न सन्धियोंके द्वारा उन्होंने सारीकी सारी भूमिको बांट लिया है। अफ्रीका तथा आस्ट्रेलियाका बँटवारा इसीका उदाहरण है। इस बटवारेके कारण रूसके लोगोंको बहुतही अधिक तकलीफ है। जापानकी जनसंख्या बहुतही अधिक बढ़ गयी है। वहांकी भूमि उस आबादीको संभालनेमें असमर्थ है। अंग्रेजलोगोंने आस्ट्रेलिया तथा अन्य द्वीपोंको अपने कब्जेमें कर लिया है। गोरे कालेका भेद उनके हृदयमें इस हद्दतक बस गया है कि वे जापानी लोगोंको भी वहांपर बसने नहीं देते हैं। यदि कोई जापानी वहांपर बसे भी तो भी उसको वह अधिकार नहीं मिलते हैं जो एक गोरे आदमीको प्राप्त हैं यह बड़ा भयंकर अन्याय है। रूसवालोंको यदि कुछ भी आत्मसंम्मान होता तो वे इसका फैसला ठीक ढंगपर करवा लेते। परन्तु यहां तो अज्ञानता तथा अकर्मण्यताका राज्य है। जो लोग कुछ करना भी चाहते हैं, उनको ऐसी भयंकर विपत्तिका सामना करना पड़ता है कि अभीतक वे इस मामलेका निर्णय अपने पक्षमें नहीं करा सके हैं।

भिन्न भिन्न सामुद्रिक मार्गोंपर भी यूरोपीय राष्ट्र अपना अपना कब्जा करना चाहते थे, परन्तु उनके आपसके झगड़ोंका मूल यह है कि लगभग सारेके सारे समुद्रके मार्ग

साथ राष्ट्रोंके जहाज़ोंके लिये खोल दिये गये हैं। यदि उपनिवेशोंके सदृश ही इन मार्गोंपर भी गोरे-कालेका प्रश्न रंग ला जमाता तो आपानका उठना बहुत ही कठिन हो जाता।

§७४ (४) *अपराधनिर्णयके सम्बन्धमें*:—

भिन्न भिन्न अपराधियोंके अपराधका निर्णय करना मुख्य तौरपर राज्यका ही काम है। राज्यके इस अधिकारकी सीमा अपनी भूमिके साथ ही सम्बद्ध है। विदेशियों वा अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रोंके नागरिकोंके अपराधका निर्णय राज्य नहीं कर सकता। उसके अपने प्रदेशमें जो लोग रहते हैं उन्हींके झगड़ोंका निर्णय वह कर सकता है। दृष्टान्त स्वरूपः-

(क) स्वदेशीय नागरिक—व्यक्तिको नागरिक बनानेका अधिकार राष्ट्रोंके पास ही है। प्रत्येक राष्ट्र इस विषयमें स्वतन्त्र तौरपर नियम बनाता है। उत्पत्ति तो नागरिक बनानेका आधार है ही। जो मनुष्य जिस राष्ट्रमें उत्पन्न हुआ वह उसीका नागरिक होता है। पिता माताकी जातीयता भी नागरिक बनाते समय ध्यानमें रखी जाती है।

(ख) विदेशीय नागरिक.-विदेशीयलोग किन किन हालतोंमें नागरिक बनाये जा सकते हैं, इसके लिये भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके भिन्न भिन्न नियम हैं। जब कि कोई विदेशीय किसी एक भिन्न राष्ट्रका नागरिक बनकर पुनः स्वदेशमें लौट आना चाहता है उस समय बड़ा झगड़ाउत्पन्न हो जाता है।

(ग) विदेशीय निवासी तथा यात्रीः—विदेशीय निवासियों तथा विदेशीय यात्रियोंका शासन स्वराष्ट्रके नियमोंके अनुसार ही होता है। प्रायः वे सैनिक कार्य्योंसे मुक्त रखे जाते हैं।

विदेशीयकी स्थिर संपत्ति (real property) सम्बन्धी झगड़ोंका निर्णय वही राष्ट्र करता है जिसमें वह संपत्ति विद्यमान है। पौरुषेय संपत्तिके साथ यह बात नहीं है। पौरुषेय सम्पत्तिसम्बन्धी झगड़ेका निर्णय स्वराष्ट्र ही करता है।

सामुद्रिक डाकुओंका निर्णय सभी राष्ट्र एक सदृश कर सकते हैं क्योंकि वे सभी राष्ट्रोंके दुश्मन समझे जाते हैं।

विदेशमें बसे हुए लोगोंपर राज्यका निर्णायक अधिकार आधा हो रह जाता है। राज्यद्रोही लोग विदेशमें स्वतन्त्र तौरपर रहते हैं। स्वदेशमें आते ही उनको पुनः दण्ड दिया जा सकता है। यह भी प्रायः देखा गया है कि एक राष्ट्रके बहुत कहनेपर दूसरा राष्ट्र राजनीतिक अपराधियोंको अपनी शरण नहीं देता है और कभी कभी उस अपराध को उसी राष्ट्रको सुपुर्द भी कर देता है जिसका उसने अपराध किया है। जिस समय एक राष्ट्रका नागरिक किसी अन्य राष्ट्रमें अपराध करता है और वह उससे भागकर किसी दूसरे राष्ट्रकी शरण लेता है उस समय इस मामलेमें बहुत ही पेचिदगियाँ खड़ी हो जाती हैं। आमतौरपर ऐसे अपराधियोंका निर्णय भिन्न भिन्न राष्ट्र भिन्न ढंगपर ही करते हैं। बहुत बार वे लोग दण्ड न पाकर स्वच्छन्द विचरते हैं।

अपराध-निर्णयके मामलेमें बहुत स्थानोंपर राष्ट्रका जटिल सम्बन्ध है। दृष्टान्त स्वरूप—

(क) भिन्न भिन्न देशोंके राजाओं तथा शासकोंको भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें स्वतन्त्र तौरपर यात्रा करनेका अधिकार है। उनपर उस राष्ट्रके नियमोंके अनुसार मुकदमा आदि नहीं चलाया जा सकता है।

(ख) स्वराष्ट्रकी सेनायें जब किसी दूसरे राष्ट्रमें होती हैं तो वे उस राष्ट्रके नियमोंके अनुसार चलनेके लिये बाधित नहीं की जा सकतीं। इसमें सन्देह भी नहीं है कि बिना आज्ञाके किसी भी राष्ट्रकी सेना किसी दूसरे राष्ट्रके अन्दरसे नहीं गुजर सकती।

(ग) विदेशीय दूतोंपर कोई भी राष्ट्र अपने राज्यनियमोंके अनुसार मुकद्दमा आदि नहीं चला सकता है।

(घ) खास खास सन्धियोंके द्वारा यूरापीय राष्ट्रके लोग ने एशियाटिक राष्ट्रोंके अन्दर रहते हुए उनके शासनसे अपने आपको बचा लिया है। टर्की चीन तथा श्याममें देशी रियासतें यूरोपीय के ऊपर अपना निर्णय नहीं कर सकती हैं। चीनको इस मामलेमें विशेष शिकायत है। परन्तु यूरापीय राष्ट्रोंको इस बातकी क्या परवाह? यूरोपीय लोग चीनमें बहुतसे अनुचित काम करते हैं परन्तु चीनका राज्य उनको दण्ड देनेमें असमर्थ है। सबसे अधिक अन्यायकी बात तो यह है कि चीनियोंको यूरोपीय राष्ट्रोंमें ऐसा कोई भी अधिकार नहीं प्राप्त है।

§७५ (५) राजनीतिके सम्बन्धमें।

भिन्न राष्ट्रोंमें अपने दूतोंका रखना अति प्राचीनकालसे प्रचलित है। यूनान, मिश्र तथा भारतके दूत भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें रहते थे। मेगस्थनीज़का चन्द्रगुप्तके दरबारमें रहना और भारतका विस्तृत तौरपर एक पुस्तकमें वर्णन करना एक प्रसिद्ध घटना है। मध्यकालमें यूरोपके अन्दर दूसरे राष्ट्रोंमें दूत आते थे परन्तु चिरकालतक न रहते थे। आज-

कल राष्ट्रोंका पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही अधिक घनिष्ट हो गया है। व्यापार व्यवसाय सम्बन्धी भगड़े भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें सदाही होते रहते हैं। यही कारण है कि आजकल सभ्य राष्ट्र अपने अपने राजदूतोंको भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें स्थिर तौरपर रखते हैं। परस्पर बातचीतकी भाषा शुरू शुरूमें लैटिन थी और फिर उसके स्थानमें फरासीसी हो गयी थी। आजकल भिन्न भिन्न राष्ट्र अपनी ही भाषाको काममें लाते हैं।

राजदूत अपने राष्ट्रको परराष्ट्रके राजनीतिक विचारों तथा राजनीतिक घटनाओं की सूचना देते हैं, अपने राष्ट्रके नागरिकों तथा यात्रियोंके अधिकारोंका ख्याल रखते हैं और समय समयपर उनके अपराधों का निर्णय भी करते हैं। एशियाटिक राष्ट्रों में इन राजदूतोंके अधिकार बहुत ही अधिक हैं। भारतकी रियासतोंको कठपुतली का तरह नचाना और मनमाने ढंगपर उनसे काम लेना अंग्रेज राजदूतों का आम तौरपर काम है। सन्धिके अनुसार यद्यपि उनको इस प्रकारके अधिकार नहीं मिले हुए हैं तो भी देशी राजाओंको उनसे पूरे तौरपर दबना पड़ता है। न दब तो करें क्या? उनके पास अपने अधिकार तथा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने तककी शक्ति नहीं है। वे अंग्रेज प्रभुओं की दया तथा कृपासे ही अपने जीवन तथा मानको बचा सकते हैं।

राजदूतों को हटाकर दूसरे राजदूतों को बुलानेमें प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्रका अधिकार है। जिस राष्ट्रके राजदूत हटाये जाते हैं वे इसमें अपना अपमान भी नहीं समझते हैं क्यों-कि इस प्रकारकी घटनाका यही अर्थ लिया जाता है कि जिस राष्ट्रने राजदूतको हटाया है वह सम्बन्ध तोड़ना नहीं

चाहता है अपितु सम्बन्ध स्थिर रखना चाहता है । उसने ऐसा काम भी इसलिये किया है कि अनुकूल राजदूतके होनेसे यह सम्बन्ध दृढ़ रह सके ।

परन्तु यदि कोई राष्ट्र राजदूतको अपने यहांसे हटावे और दूसरे राजदूतको न आने दे तो इसका तात्पर्य 'युद्ध' से लिया जाता है । युद्धकी उद्घोषणासे पूर्व प्रायः राष्ट्र अपने अपने राजदूतोंको स्वयं ही बुला लेते हैं ।

युद्ध समाप्त होनेपर भिन्न भिन्न राष्ट्र एक दूसरेसे सन्धि करते हैं । संयुक्त प्रान्त अमरीकामें सीनेट्की शक्ति अपूर्व है । सीनेट् ही सन्धियोंको स्वीकृत करती है । सन्धिके अनेक भेद हैं । भूमिका अपहरण, अधिकारका अपहरण, सीमा-निश्चय आदि भिन्न भिन्न प्रकारकी सन्धियोंके मुख्य आधार होते हैं ।

सन्धि विषयक बातोंको तय करनेके लिये भिन्न भिन्न राष्ट्र भिन्न भिन्न योग्य व्यक्तियोंको ही नियत करते हैं । कभी विदेशीय मन्त्री भी इसी कामके लिए भेज दिया जाता है । आम तौरपर उदासीन राष्ट्रोंमें भी सन्धियोंकी शर्त्तें तय की जाती हैं । इस महायुद्धमें तो प्रायः मित्रराष्ट्रोंने अपने अपने राष्ट्रोंको ही सन्धिकी शर्तोंको तय करनेके लिये चुना है । राष्ट्रोंकी समानताको दिखानेके लिये जो सन्धि-पत्र जिस राष्ट्रके सम्बन्धमें होता है शुरू शुरूमें उसपर उसी राष्ट्रका नाम लिखा जाता है ।

अन्तर्जातीय झगड़ोंमें प्रायः राष्ट्रोंको अपनी शिकायतोंका कारण स्पष्ट तौरपर देना पड़ता है । यदि इसपर भी झगड़ा तय न हुआ तो पुनः युद्ध शुरू हो जाता है । साधा-

रण झगड़े हो किसी उदासीन राष्ट्रको मध्यस्थ बनाकर तय कर लिये जाते हैं। मध्यस्थ राष्ट्रका निर्णय राष्ट्रोंको मानना पड़ता है।

हेगकी समितिने भी छोटे मोटे झगड़ोंको निपटानेका काम बहुत ही अच्छी तरहसे किया है। संवत् १६५६ (सन् १८६६) में रूसके ज़ारके आमंत्रणपर २६ राष्ट्रोंके प्रतिनिधि हेग नामक स्थान पर एकत्र हुए। इन्होंने जल तथा स्थल युद्धकी कठिनाइयोंको कम करने तथा युद्धसामग्रीको घटाने का इरादा किया। अन्तिम तभी हो सकता था जब कि सब राष्ट्र स्वीकृत करते। परन्तु यह न हुआ। कुछ छोटी मोटी बातें सभी राष्ट्रोंने तय कीं और उनपर अपने अपने हस्ताक्षर भी कर दिये। जर्मनीके विरुद्ध होनेसे युद्ध सामग्री विषयक कुछ भी निर्णय न हुआ। संवत् १६६४ (सन् १६०७) में राष्ट्रोंकी द्वितीय समिति हेगमें बैठी। युद्ध कालमें शत्रुराष्ट्रमें पड़ी वैयक्तिक सम्पत्तिके साथ क्या व्यवहार होना चाहिये इसका निर्णय किया गया। बहु सम्मतिसे ही इस स्थानपर काम किया गया। युद्धोंके घटाने तथा उत्पन्न न होने देनेके तरीकों पर विचार हुआ। यह सब होते हुए भी राष्ट्रोंके लाभ तथा स्वार्थने उस भयंकर युद्धको संसारके सम्मुख रखा जिसकी किसीको भी आशा न थी। एशियाटिक राष्ट्रोंके साथ यूरोपीय राष्ट्रोंका दुर्व्यवहार तथा बचे बचाये स्वाधीन एशियाटिक राष्ट्रोंको निगलनेकी प्रबल इच्छा अभी और कई एक भयंकर युद्धोंको स्थान देगी।

यदि चीनके साथ जापानका व्यवहार अनुचित है तो

यूरोपीय राष्ट्रों की स्वार्थपूर्ण इच्छा तो और भी भयंकर है। शुरू शुरूमें यूरोपीय राष्ट्रोंने भारतवर्षको बांटना चाहा परन्तु इंग्लैण्ड अकेला ही हड़प कर गया। अब चीनको खानेके लिए जापान, अमरीका तथा इंग्लैण्डकी प्रबल इच्छा है। यूरोपीय गोरेराष्ट्र अभी युद्धसे थके हैं। ज्योंही उनकी थकावट दूर हुई त्योंही ये पुनः युद्धपर उतारू हो जायंगे। राजनीतिज्ञोंका विचार है कि भावी युद्ध एशियामें ही होगा।

महायुद्धके खातमे पर डाक्टर वुड्रो विल्सनकी उद्घोषणाओंके अनुसार काम न कर रूम (टर्की) का अंगभंग करना, जर्मनीको लज्जाजनक शर्तोंसे बांधना और आष्ट्रिया हंगरीके सम्मुख राष्ट्रनाशक शर्तोंको रखना, इस बातका साक्षी है कि अभी यूरोपीय राष्ट्रोंके स्वार्थ तथा दुर्व्यवहार भयंकरसे भयंकर युद्धोंको संसारके सन्मुख रखेंगे।

सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि इंग्लैण्ड अपनी सामुद्रिक शक्तिके बलपर पराजित राष्ट्रोंको भूखों मार डालनेका भय दिखाता है और जबरन् सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर करवानेके लिये बाधित कर रहा है, परन्तु इसका फल यही है कि कुछ समय तक युद्ध रुका रहेगा। ज्योंही पराजित राष्ट्र शक्तिशाली हुए त्योंही वे इंग्लैण्डसे इस शर्मनाक शर्तोंपर हस्ताक्षर करवानेका बदला चुकानेका यत्न करेंगे। सारांश यह है कि अभी सभ्यराष्ट्र उस विचाररहित अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सके हैं, जिसमें है कि युद्धोंके समूल नाशकी कल्पना की जा सके।

६७६ (ई) *युद्धके विषयमें अन्तर्जातीय राज्यनियम।*

अन्तर्जातीय सम्बन्धोंका स्थिर रखना तथा राष्ट्रोंके

पारस्परिक झगड़ोंका शान्त करना किसी भी सङ्गठनके हाथमें न होनेसे राष्ट्रोंका पारस्परिक युद्ध अनिवार्य्य हो गया है। युद्ध शुरू करनेसे पूर्व शत्रुराष्ट्र एक दूसरे राष्ट्रके नागरिकोंको विशेष विशेष अधिकारोंसे वञ्चित कर देते हैं। घेरा डालकर व्यापार व्यवसायको धक्का पहुंचाना और अन्न आदि भोज्य पदार्थोंको न पहुंचने देना इत्यादि काम अपनी अपनी शक्तिके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र करता है। शत्रुराष्ट्रके जहाज़ोंको पकड़ कर और शत्रु राष्ट्र निवासियोंको कैदकर एक दूसरेको नुकसान पहुंचानेका यत्न किया जाता है। इन सब उपरिलिखित साधनोंसे भी यदि राष्ट्रकी क्रोधाग्नि न शान्त हो तो अपनी सेनाओंके द्वारा एक दूसरेपर आक्रमण किया जाता है। घरेलू झगड़ोंमें भी वर्त्तमान राज्य युद्धके नियमोंको ही काममें लाते हैं। पञ्जाबके अन्दर अंग्रेज़ी राज्यने प्रजापर घोर अत्याचार किया। नि:शस्त्र प्रजापर मेशीनगन द्वारा भयंकर गोलियां चलायी गयी और गुजरांवालाके शान्त नागरिकोंपर आकाशसे बम्ब गिराये गये। इसके बाद कई लोगोंको फांसी दी गयी और बहुतोंको काले पानीका भी सजा हुई। लोगोंका अपराध यह था कि उन्होंने रौलैट एक्टके पास होने पर अपने असन्तोषको जाहिर करनेके लिए एक सभा कर डाली, अस्तु।

जिस जिन देशोंमें जनता राज्यके भयंकर अत्याचारोंसे अपने आपको छुड़ानेके लिये गदर कर देती है और गदरमें सफल होकर एक नया राज्य स्थापित करती है, उनको भिन्न भिन्न जातियोंसे अपने राज्यको स्वीकृत

करवाना पड़ता है। बहुत बार इसमें बड़ी बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। पूर्व राज्यके मित्र राष्ट्र नवीन राज्यको स्वीकृत नहीं करते हैं। उनके सम्मुख नयेसे नये झमेले पेश करते हैं।

युद्ध उद्घोषित करनेका अधिकार भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे काममें लाया जाता है। संरक्षणसे सम्बद्ध युद्धों में प्रायः शासक विभाग स्वतन्त्र हैं। आक्रमण करते समय उनको नियामक विभागको स्वीकृति लेनी पड़ती है। मध्यकालमें दूरवर्ती राष्ट्रों के साथ युद्ध या सन्धि करनेका अधिकार भिन्न भिन्न कम्पनियों तथा औपनिवेशिक राज्यों को प्राप्त था। आजकल यह बात नहीं रही। युद्ध छिड़ने ही राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध टूट जाता है। शत्रुराष्ट्रके नागरिक एक दूसरेको शत्रु समझने लगते हैं। व्यापार बन्द हो जाता है। ठेका सम्बन्धी काम जहांके तहां पड़े रह जाते हैं। युद्धों के नियम युद्धों के तरीकों के साथ बदलते रहते हैं। अधिक तर झुकाव यहीहै कि कैदियों के साथ बुरा व्यवहार न किया जाय। अमानुषिकता तथा क्रूरताको दूर रख कर काम किया जाय। यह होते हुए भी मानुषी हृदय शत्रुता तथा क्रोधमें जो न करे वही थोड़ा है। जर्मनी तथा मित्र राष्ट्रों ने एक दूसरे राष्ट्रके निवासियों तथा कैदियों के साथ जो क्रूर व्यवहार किये वे इतिहासके पन्नोंमें सदा अंकित रहेंगे। इस महायुद्धमें स्मरणीय ऐतिहासिक पदार्थ नष्ट किये गये और अच्छे अच्छे देखने योग्य मकान खाकमें मिला दिये गये।

युद्धके तरीकोंपर राजनीतिज्ञोंका भयंकर मतभेद है। यह होते हुए भी संवत् १९३१ (सन् १८७४) की ब्रुसल्स कान्फरेन्समें गुरिल्ला सैनिकोंको रखना और प्रत्येक नागरिकका युद्धके लिए तैयार करना राष्ट्रोंके लिए अनुचित ठहराया गया। कैदियोंको मार डालना, विषैली गोलियोंको छोड़ना तथा शत्रुराष्ट्रकी भूमिको उजाड़ना वर्त्तमान युद्ध-प्रणालीके अनुसार अनुचित है। संवत् १९२१ (सन् १८६४) की जिनोआ समितिने घायलोंको सेवा करनेवाली तथा इलाज करनेवाली समितियों के लोगोंपर प्रत्येक प्रकारका आक्रमण तथा प्रहार रोक दिया।

युद्धके समयमें सम्पत्ति सम्बन्धी अन्तर्जातीय नियम निम्नलिखित हैं—

(१) भूमिविषयक:—सैनिक कार्य्योंमें आनेके योग्य राष्ट्रीय संपत्तिको शत्रु लोग नष्ट कर सकते हैं। शिक्षा, धार्मिक कृत्य तथा राष्ट्रीय कार्य्योंसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्पत्तिका संरक्षण आवश्यक है। कोई भी शत्रु उसको नहीं छू सकता।

(२) वैयक्तिक संपत्ति विषयक–वैयक्तिक सम्पत्ति दो प्रकारकी होती है। एक तो स्थिर और दूसरी पौरुषेय। स्थिर सम्पत्ति युद्धके समयमें नहीं छीनी जा सकती है। पौरुषेय संपत्ति जरूरतके अनुसार ली जा सकती है, परन्तु उसके बदलेमें धन आदिका देना जरूरी है। लूट सर्वथा बन्द है।

(३) समुद्र विषयक–प्रत्येक प्रकारका जहाज पकड़ा जा सकता है। जहाजके मामलेमें व्यक्तियोंका या कम्पनियोंका विचार नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह भी नहीं है कि उदा-

तीन राष्ट्रों के समुद्रमें किसीके भी जहाजको कोई भी हाथ नहीं लगा सकता है।

पकड़े हुए जहाजोंकी सम्पत्तिपर उसी राष्ट्रका हक होता है जो कि उसको पकड़ता है। वह उसको चाहे बेचे, चाहे जलाये। कोई भी इस मामलेमें कुछ बोल नहीं सकता है। संवत् १८६६ (सन् १८०६) में लन्दनके अन्दर इस विषयमें अन्तर्जातीय सभा हुई और कुछ नियम भी बनाये गये। परन्तु अभी तक इस मामलेमें अन्धाधुन्धी पूर्ववत प्रचलित है। शत्रु राष्ट्र जैसा क्रूर व्यवहार चाहे करे कोई चूं चां करनेवाला नहीं है।

§७७ (७) *उदासीनताके विषयमें अन्तर्जातीय राज्यनियम।*

भिन्न भिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक युद्धमें जो राष्ट्र कुछ भी भाग नहीं लेते हैं वे उदासीन राष्ट्रके नामसे पुकारे जाते हैं। बहुत बार पारस्परिक युद्धसे बचनेके लिये राष्ट्र उदासीन बनाये भी जाते हैं। महायुद्ध के पूर्व बैल्जियम तथा स्विज़र्लैण्डकी यही स्थिति थी। जिन चीज़ोंपर या स्थानोंपर संसारके भिन्न भिन्न राष्ट्रों का स्वार्थ समान तौरपर होता है, वे 'उदासीन' कर दिये जाते हैं। स्वेजनहर सभी राष्ट्रों के लिये एक सदृश खुली हुई है।

मध्यकालमें यूरोपके अन्दर 'उदासीनता' विषयक कुछ भी नियम न प्रचलित थे। व्यापारके बढ़नेपर और राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धके घनिष्ट होनेपर इस बातकी विशेष तौरपर जरूरत पड़ी। विक्रम १८ वीं सदीके मध्यमें इस बातकी भूमिका बंधनी शुरू हुई। इंग्लैण्डको द्वीपी स्थिति और

संयुक्त प्रान्त अमरीकाका यूरोपीय युद्धों से पृथक रहना इत्यादि बातोंने यूरोपमें उदासीनता विषयक राज्य-नियमों को प्रचलित किया।

लड़ाकू राष्ट्रों को उदासीन राष्ट्रों के साथ व्यवहार करते हुए आजकल निम्नलिखित बातें ख्यालमें रखनी पड़ती हैं।

(१) उदासीन राष्ट्रों की भूमि, समुद्र, तथा आकाशमें युद्ध न करना।

(२) उदासीन राष्ट्रों की भूमिमें युद्धको तैय्यारी न करना। उदासीन राष्ट्र के समुद्रमेंसे जहाजों को ले जा सकते हैं और आकाशमेंसे विमानों को उड़ा सकते हैं परन्तु किसी प्रकारका भी युद्ध नहीं किया जासकता।

(३) उदासीन राष्ट्रोंके उन नियमोंको माननेके लिये लड़ाकू राष्ट्र बाधित हैं जो वे अपने देशकी रक्षाके लिये बनावें। उदासीन राष्ट्र अपने बन्दरगाहोंको लड़ाकू राष्ट्रों के लिये बन्दकर सकते हैं। परन्तु इसमें सन्देह भी नहीं है कि उनको लड़ाकू राष्ट्रोंके साथ एक स‍ृश व्यवहार करना चाहिये।

निम्न लिखित मामलों में उदासीन राष्ट्रों को लड़ाकू राष्ट्रों का ख्याल रखना पड़ता है।

(१) किसी भी लड़ाकू राष्ट्रको युद्ध सामग्री सम्बन्धी सहायता न देना।

(२) किसी भी शत्रुराष्ट्रको विशेष अधिकार न देना जो कि दूसरे शत्रुराष्ट्रको न प्राप्त हों।

(३) लड़ाकू राष्ट्रों को धन सम्बन्धी सहायता न देना।

(४) लड़ाकू राष्ट्रों के गुप्तचरों तथा दूतों को अपने देशमें न आने देना।

(५) अपने देशके रहनेवालोंको किसी भी लड़ाकू राष्ट्रकी सहायताके लिये न आने देना। एक दो व्यक्ति युद्धमें आ सकते हैं परन्तु हजारोंको संख्यामें ऐसा नहीं किया जासकता।

(६) उदासीनता सम्बन्धी नियमोंके टूटनेसे यदि किसी शत्रुराष्ट्रको नुकसान पहुंचा हो तो उस नुकसानको पूरा करना।

§७८ व्यापार सम्बन्धी उदासीनताके विषयमें।

युद्धके समयमें व्यापारके अन्दर बहुत कुछ स्वतन्त्रता रखी जाती है। जहां तक होता है इसमें बहुत रुकावटें नहीं डाली जाती हैं। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि घेरेकी हालतमें प्रत्येक जहाजके पदार्थोंका, जहाजकी मिलकियतका तथा अन्य बहुतसी बातोंका ज्ञान जब शत्रु प्राप्त कर लेता है तभी उसका स्वतन्त्र तौरपर पदार्थ ले जानेकी आज्ञा देता है।

मध्यकालमें समुद्रके द्वारा व्यापार करना सुगम काम न था। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके जहाजोंको लूट सकता था। यही कारण था कि उस जमानेमें दूर दूरके देशोंके साथ व्यापार करनेके लिये बड़ी बड़ी कम्पनियां खड़ी की गयी थीं और उनको युद्ध आदि उद्घोषित करनेका अधिकार दे दिया गया था। हालैण्डने ही इस प्रकारकी लूटमारको रोका और सामुद्रिक व्यापारको उन्नत किया। संवत् १६१३ (सन् १८५६) में पैरिसके अन्दर जो सभा हुई उसमें निम्नलिखित बातें तय की गयीं।

(१) युद्ध सम्बन्धी सामग्रीको लेजानेवाले जहाजों-

को छोड़कर युद्धकालमें उदासीन राष्ट्रों के जहाज़ों को कोई भी नहीं पकड़ सकता है ।

(२) जिस जहाजपर उदासीन राष्ट्रका झण्डा होगा वह न पकड़ा जायगा।

हेगकी द्वितीय सभामें 'युद्धके अन्दर वैयक्तिक संपत्तिको लेजानेवाले जहाजोंको न पकड़ा जाय, यह प्रस्ताव पेश हुआ परन्तु इंग्लैण्डके मन्जूर न करनेसे पास न हो सका। आज-कल विशेष विवाद इसी बातपर है कि 'युद्धकी सामग्री' में कौन कौनसे पदार्थ समझे जायं और कौन कौनसे पदार्थ न समझे जायं। इसका मुख्य कारण यह है कि बहुतसे ऐसे पदार्थ हैं जो कि युद्धके कार्यमें भी आते हैं और अन्य साधारण कामों में भी आते हैं। युद्धके समयमें प्रायः ऐसे ही मामलोंमें छोटेमोटे झगड़े आते हैं और पुनः शान्त हो जाते हैं।

ग्यारहवाँ परिच्छेद।

राष्ट्र तथा राज्यका स्वरूप।

§७९ राष्ट्रका स्वरूप।

राष्ट्रोंका वर्गीकरण करना सुगम काम नहीं है। भूमि, जनसंख्या, एकता तथा संगठनका सभी राष्ट्रोंमें होना जरूरी है। सभी राष्ट्र प्रभुत्वशक्तिसंपन्न होनेसे समान हैं, यह होते हुए भी उनमें कुछ भेद है।

भूमि तथा जनसंख्याके विचारसे राष्ट्रोंका वर्गीकरण संभव है परन्तु राजनीतिशास्त्रमें इसका कुछ भी महत्व नहीं। यह होते हुए भी नगर-राज्य जाति-राज्य तथा सार्वभौम-राज्यका व्यवहार होता है। राष्ट्रोंके स्वरूप तथा विस्तारका उनकी शक्तिके साथ विशेष सम्बन्ध है। सिद्धान्तमें चाहे सभी राष्ट्र क्यों न समान हों परन्तु वस्तुतः यह बात नहीं है। बड़े राष्ट्रोंकी शक्ति छोटे राष्ट्रोंसे बहुत ही अधिक है। एक यही बात राष्ट्रोंमें समता सिद्धान्तका लोप कर रही है। अन्य बातोंका कहना ही क्या है?

एकताके आधारपर तो राज्यका वर्गीकरण हो ही नहीं सकता है, क्योंकि इसका सभी राष्ट्रोंमें होना परम आवश्यक है। एक संगठन ही ऐसी बात है जिसमें राष्ट्रोंका पारस्परिक भेद है। जितने राष्ट्र हैं उतनेही प्रकारका उनका संगठन है।

राष्ट्रके स्वरूपका प्राचीनकालमें भी वर्गीकरण किया गया। परन्तु चूंकि प्राचीन राजनीतिज्ञोंका ध्यान राष्ट्रके स्वरूपपर पूर्ण तौरपर न था इसीलिये उनके वर्गीकरणका आधार बदल गया। रोमसाम्राज्यके छिन्न भिन्न हो जानेके बाद यूरोपकी काया पलटी। जातीय राष्ट्रोंका उदय हुआ। माटस्क्यू रूसो तथा ब्लुण्ट्श्लीने समय समयपर राष्ट्रीय स्वरूपका नये सिरेसे निरीक्षण और वर्गीकरण किया। प्राचीन तथा नवीन वर्गीकरणमें कितना भेद है अब इसीपर क्रमशः प्रकाश डाला जायगा।

१. राष्ट्रीय स्वरूपका पुरातन वर्गीकरण।

आजसे दो सहस्रवर्ष पूर्व अरस्तूने राष्ट्रीय स्वरूपका वर्गीकरण किया था। प्रत्येक राष्ट्रमें एक मुख्य अंग होता है जिसमें राष्ट्रीय शक्ति सञ्चित रहती है और यहांसे ही अन्य अंगोंमें बहती है। उस मुख्य अंगमें कितने जन सम्मिलित हैं इसीको लक्ष्य रख करके अरस्तूने राष्ट्रीय स्वरूपका वर्गीकरण किया था। साथही उसने संपूर्ण राष्ट्रोंको स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक, इन दो विभागोंमें विभक्त कर दिया। राष्ट्रका मुख्यांग यदि अपनी शक्तिको राष्ट्रहितमें प्रयुक्त करे तो स्वाभाविक राष्ट्र और यदि राष्ट्र अहितमें प्रयुक्त करे तो अस्वाभाविक राष्ट्र होता है। राजा, कुलीन तथा प्रजामेंसे प्रभुत्वशक्तिका सञ्चय तथा स्रोत किसमें है इस विचारसे स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक राष्ट्र त्रिविध हैं।

स्वाभाविकराष्ट्र	अस्वाभाविकराष्ट्र
(१) राजात्मक राज्य (Monarchy)	स्वेच्छाचारी राज्य (Despotism)
(२) कुलीनात्मक राज्य (Aristocracy)	धनिक राज्य (Oligarchy)
(३) प्रजात्मक राज्य (Democracy)	अध्यमजन राज्य (Ochlocracy)

प्रभुत्वशक्ति कितनी संख्यामें है इसीको ध्यानमें रख करके राष्ट्रीय स्वरूपका उपरिलिखित वर्गीकरण किया गया है। परन्तु एकमात्र संख्याके विचारसे यदि इसमें 'गुण' का ध्यान न किया जावे तो कोई भी वर्गीकरण पूर्ण नहीं हो सकता है। यही नहीं, उपरिलिखित वर्गीकरणमें देवात्मकराष्ट्र (Ideocracy ot theocracy) सर्वथा ही सम्मिलित नहीं हो सकते हैं क्योंकि उनमें प्रभुत्वशक्तिका स्रोत किसी जनसमाजको न मानकरके ईश्वर या बहुदेव ही माने जाते हैं।

बहुतसे राजनीतिज्ञोंकी सम्मतिमें 'संमिश्रितराष्ट्र' को भी अरस्तूके वर्गीकरणमें स्थान मिलना चाहिए। सिसरोने रोमन-राष्ट्रको संमिश्रितराष्ट्र प्रगट किया था, क्योंकि उसमें प्रभुत्व-शक्ति राजा, कुलीन तथा नागरिकोंमें संमिलित रूपसे विभक्त थी। मध्यकालने राजनीतिज्ञोंने इंग्लैण्डको संमिश्रितराष्ट्र प्रगट करना प्रारम्भ किया। इसमें मुख्य कारण यही था कि वहां प्रभुत्वशक्ति राज, लार्डसभा तथा प्रतिनिधिसभा' तीनोंमें ही विद्यमान थी। जो कुछ हो, संमिश्रित राष्ट्रकी पृथक् सत्ता हम किसी भी प्रकारसे नहीं कर सकते हैं। इससे राष्ट्रीयजीवन' का नाश होना स्वाभाविक है। राष्ट्रीय अंगोंमें परस्पर निरपेक्ष तौरपर प्रभु-त्वशक्तिको स्थापित करनेवाला कोई भी वर्गीकरण प्रामाणिक नहीं हो सकता है। राष्ट्रका कोई अंग गौण तथा कोई अंग मुख्य हो सकता है, परन्तु सभी अंग परस्पर संबद्ध तथा प्रभुत्व-शक्तिसे संचालित रहते हैं। अर्थात् राष्ट्रका मुख्य अंग राष्ट्रीय शक्तिका स्रोत होता है। उसको भिन्न भिन्न अंगोंमें विभक्त करना कठिन है, अन्यथा राष्ट्रीय जीवनका नाश स्वाभाविक

ही है। यही कारण है कि संमिश्रित राष्ट्रको कोई पृथक् सत्ता नहीं है।

महाशय मान्टस्क्यूने अरस्तूके वर्गीकरणको संख्याके स्थानपर सदाचारीय सिद्धान्तों द्वारा प्रगट किया है। उसके विचारमें एक सत्तात्मकराज्यका मान्य (१) स्वेच्छाचारी राज्यका भय, प्रजासत्तात्मक राज्यका सदाचार तथा कुलीनराज्यक मध्यता (moderation) विशेष चिन्ह होता है। इसके सदृश ही श्लीयर माचर (Schleirmacher) ने 'राजनीतिकविकास' के अनुसार अरस्तूके वर्गीकरणकी व्याख्या की है। उसकी सम्मतिमें 'राष्ट्र' का स्वतः उदय शासक शासितोंके पारस्परिक भेदसे है। इसका प्रथम क्रम अल्प राष्ट्रीय होता है। परन्तु ज्योंही अन्यजनोंमें राजनीतिक जागृति होती है त्यों ही इसका प्रथम क्रम नष्ट होकरके द्वितीय क्रमको स्थान दे देता है। शासक शासितोंमें जहां भेद अतिशय अल्प हो वहां प्रजात्मकराज्य होता है। प्रजात्मकराज्य की सत्ता संपूर्ण जनताकी राजनीतिक जागृतिपर आश्रित है। परन्तु जिस देशमें प्रजाके कुछ ही व्यक्तियोंमें राजनीतिक जागृति हो वहां प्रजात्मकके स्थानपर कुलीनात्मक राज्य होता है। राष्ट्रका तृतीय रूप एकसत्तात्मक राज्य है। इसमें संपूर्ण जाति शासित तथा एकही व्यक्ति शासक होता है।

मान्टस्क्यू तथा श्लीयरमैकरकी उपरिलिखित व्याख्या सर्वथा स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि सदाचारके सिद्धान्तोंका भिन्न भिन्न देशीय शासन पद्धतियोंके साथ कोइ अतिशय घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। मान्टस्क्यू द्वारा निर्दिष्ट चिन्ह भिन्न भिन्न शासनपद्धतियोंके साथ समवाय सम्बन्धसे रहते हैं, यह

कहना साहस मात्र होगा । इसी प्रकार इलीयरमाचर द्वारा प्रतिपादित 'राष्ट्रों' में राजनीतिक विकासका क्रम त्रुटिपूर्ण होनेसे हेय है । प्राचीनकालमें 'राजनीतिक विकास' का क्रम वही था जो कि उसने प्रगट किया है, परन्तु आजकल तो राष्ट्रोंकी प्रवृत्ति राज्यात्मकराज्यसे प्रजात्मकराज्यकी ओर ही है ।

संख्याके अनुसार राष्ट्रके मुख्यांगका वर्गीकरण किया जा चुका है और साथ ही यह भी लिखा जा चुका है कि उसमें 'देवात्मकराष्ट्र' को अवश्य ही सम्मिलित करना चाहिये । देवात्मकराष्ट्रका स्वाभाविक रूप ईश्वरात्मक तथा अस्वाभाविक रूप प्रतिमात्मक होता है । संपूर्ण वर्गीकरणकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है ।

(क) देवात्मकराज्यः—ऐसे राज्योंमें जनता ईश्वर या देवविशेषको ही अपना मुख्य शासक समझती है ।

(ख) राजात्मकराज्यः—ऐसे राज्योंमें जनता ईश्वर या देव विशेषके स्थानपर किसी एक व्यक्तिको ही अपना मुख्य शासक समझती है ।

(ग) कुलीनात्मकराज्यः—कुलीनात्मकराज्योंमें जनताके कुछ उच्चकुलोंके व्यक्ति मुख्य शासकका पद ग्रहण करते हैं और शेष जनता 'शासित' का रूप प्राप्त करती है ।

(घ) प्रजात्मकराज्यः—प्रजात्मकराज्योंमें समष्टि रूपसे प्रजा ही मुख्य शासक होती है और व्यष्टि रूपसे वही 'शासित' का रूप धारण करती है ।

२. राष्ट्रीय स्वरूपका मान्टस्क्यू रूसो तथा ब्लुन्ट्शलीकृत वर्गीकरण ।

मान्टस्क्यू अर्वाचीन राजनीतिका पिता समझा जाता

है। उसीने सवत् १८०५ (सन् १७४८) राज्योंका एक तन्त्र राज्य, स्वेच्छाचारी राज्य, तथा लोकतन्त्र राज्यके रूपमे विभाग किया। उसके विचारमें लोकतन्त्र राज्य वह राज्य था जिसमें जनता प्रवन्ध 'रूपमें या निर्वाचकोंके द्वारा प्रभुत्व-शक्तिका प्रयोग करता हो। इसी प्रकार स्वेच्छाचारी राज्यमें विना राज्यनियमोंके सहारे ओर एक तंत्र राज्यमे एक ही व्यक्ति लोकनियमोंके सहारे शासनका काम करता है। रूसोको यह वर्गीकरण पसन्द न था, यही कारण है कि उसने एकतन्त्रराज्य, कुलीन तन्त्रराज्य तथा लोकतन्त्रराज्य-में राज्यका वर्गीकरण किया। इसके सदृश ही उसने संमिश्रित राष्ट्रकी भी आवश्यकता प्रगट की। परन्तु उसमे क्या दोष है इसपर पूर्व उपप्रकरणमे प्रकाश डाला जाचुका है। रूसोके बाद ब्लुन्टश्लीने राजनीति शास्त्रको बहुत ही अधिक उन्नत किया। उसने जो देवात्मक राज्यकी कल्पना की उसका अर्वाचीन राजनीतिज्ञ नहीं मानते है। वान माहलका वर्गीकरण तो शुरूसे ही सर्वप्रिय न हुआ।

अर्वाचीन लेखकोका ध्यान राष्ट्रोंकी वास्तविक दशापर है। यही कारण है कि संगठनको आधार बनाकर ही वे राष्ट्रोका वर्गीकरण करते हैं। विषयके महत्व पूर्ण होनेसे अब उसीपर प्रकाश डाला जायगा।

८०. <u>? यका स्वरूप</u>

इतिहासको देखनेसे मालूम पड़ता है भिन्न भिन्न राष्ट्र समय समयमें भिन्न भिन्न राज्यपद्धति द्वारा शासित होते रहे हैं। संक्षेपमें उनका परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है।

(१) शासनकी स्थिरता तथा संगठनकी पूर्णताको सामने रखते हुए संपूर्ण राज्य स्वेच्छाचारी राज्य तथा लोकतन्त्रराज्यमें विभक्त किये जा सकते है।

(क) स्वेच्छाचारी राज्य —इस ढगके राज्यका यह तात्पर्य्य है कि राज्य कुछ स्वेच्छाचारी व्यक्तियोंके हाथमें है। राज्य-नियमोंके बनानेमें जनताका कुछ भी भाग नहीं है और न वह राज्यको ही अपनी इच्छाके अनुसार चलनेपर बाधित कर सकती है। लड़ाईसे पहिले रूम (टर्की) तथा रूसमें इसी ढंगका शासन था। भारतमें अबतक यही हाल है।

(ख) लोकतन्त्रराज्य —इसका तात्पर्य्य यह है कि जनताकी बहुसख्या ही राज्यको अपने ढंगपर चलावे। निर्वाचनका अधिकार अधिकसे अधिक संख्या तक विस्तृत हो। इंग्लैण्ड, अमरीका, जर्मनी, फ्रान्स, स्विट्जर्लैंड, अर्जन्टाइन रिपब्लिक् आदि इसी ढंगके राज्यके उदाहरण हैं।

(२) शासकोंकी नियुक्ति तथा निर्वाचनको सामने रखने हुए राज्योंका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार किया जा सकता है।

(क) वंश प्रधान राज्यः—विशेष विशेष वंशके व्यक्ति ही जब किसी राष्ट्रमें राज्यकार्य चलाते हैं तो उनका राज्य वंश-प्रधान-राज्यके नामसे पुकारा जाता है। वंशप्रधान-राज्यके दो भेद हैं। एकमें तो स्त्रियोंको भी राज्यकार्य करनेका मौका मिलता है और दूसरेमें नहीं। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न वंश-प्रधान राज्योंमें व्यक्तियोंके शासक पदपर नियुक्त होनेका भिन्न भिन्न क्रम है

(1) पुरुषराज्य —ऐसे राज्योंमें पुरुषोंको ही राज्यपद

मिलता है । मृतपुरुषके वंशमें जो सबसे बड़ा हो यदि वह अपुत्र हो तो जो सबसे अधिक समीपका हो वही राज्यकी गद्दीपर बैठाया जाता है ।

(ii) स्त्रीराज्य —ऐसे राज्योंमें पुरुषोंके सदृश ही स्त्रियाँ भी राजगद्दीपर बैठा दी जाती हैं । इंग्लैण्डमें जरूरत पड़ने पर स्त्रियोंको भी राज्यकार्य सुपुर्द कर दिया जाता है ।

(iii) नियुक्ति स्थानत्य —बहुतसे राज्योंमें शासकोंका यह अधिकार है कि वे अपना उत्तराधिकारी शाहीवंशमेंसे किसी एक व्यक्तिको चुनें ।

(ख) निर्वाचितराज्य —निर्वाचितराज्य वे हैं जिनमें शासकोंकी नियुक्ति निर्वाचनके द्वारा होती है । निर्वाचन प्रत्यक्ष तथा परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है ।

(i) प्रत्यक्ष निर्वाचन —प्रत्यक्ष निर्वाचनमें जनता स्वयं उपस्थित होकर प्रत्यक्ष तौरपर शासकोंका निर्वाचन करती है ।

(ii) परोक्ष निर्वाचन —परोक्ष निर्वाचनमें जनता प्रतिनिधियोंके द्वारा ही शासकोंका निर्वाचन करती है ।

अर्वाचीन लोकतन्त्रराज्योंमें निर्वाचनके दोनों ही प्रकार प्रचलित हैं । राज्य सेवकोंकी नियुक्तिमें परीक्षा तथा चुनावके द्वारा प्रायः काम लिया जाता है ।

शक्तिके विभागके सिद्धान्तको सामने रखते हुए अर्वाचीन राष्ट्र निम्नलिखित दो भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं:-

(१) एकात्मक तथा द्वित्वराज्य -इसमें राज्यके भिन्न भिन्न अंगोंका पारस्परिक संबन्ध ही सामने रखा जाता है ।

(२) सचिवतन्त्र तथा असचिवतन्त्र राज्य.—नियामक विभाग

तथा शासक विभागके संबन्धपर ही इस विभागका आधार है ।

(१) एकात्मक तथा द्वित्वराज्य ।

(क) एकात्मकराज्य –एकात्मक राज्योंमें राज्यशक्ति एक ही संस्था या एक ही व्यक्तिके पास होती है । अन्य सब गौण राजकीय संस्थायें उसीसे शक्ति प्राप्त कर काम करती हैं और यदि वे शक्ति न दें तो उनको काम छोड़ना पड़ता है । सुगमताके लिए मुख्य राज्य स्थानीय राज्य तथा मांडलिक राज्यको पृथक् पृथक् काम सुपुर्द कर सकता है और उनको कुछ कुछ अधिकार भी दे सकता है । परन्तु यदि वह उनको अधिकार देना या उनका पृथक् अस्तित्व उचित न समझे तो वह उनको नष्ट भी कर सकता है और उनके अधिकारोंका अपहरण भी कर सकता है । आमतौरपर निम्नलिखित हालतोंमें ही एकात्मक राज्य उत्तम विधिपर काम करता है ।

(१) यदि राष्ट्रके सभी अंग भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिसे एकसूत्रमें बंधे हों ।

(२) यदि राष्ट्रकी जनसंख्यामें भिन्न भिन्न परस्पर-विरोधी जनताके मनुष्य हों और आपसमें मिलकर काम करनेके लिये तैयार न हों ।

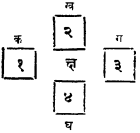
(३) यदि राष्ट्रकी जनता राजनीतिमें भाग न लेती हो और स्थानीय स्वराज्यके योग्य न हो ।

(ख) द्वित्वराज्यः–द्वित्वराज्य उन्हीं राष्ट्रोंमें होता है जहां राष्ट्रके भिन्न भिन्न अंग शक्तिसंपन्न हों और उनमें चिरकालसे राजनीतिक जीवन विद्यमान हो । द्वित्वराज्यके दो भेद हैं:–

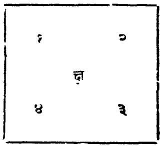
(i) अपूर्ण संघराज्य (Confederate):–इस ढंगके राज्यमें बहुतसे भिन्न भिन्न राष्ट्र जरूरत पडनेपर एक दूसरे राष्ट्रसे अपूर्ण संघराज्यके रूपमें मिल जाते हैं ।

(ii) संघराज (Federal):–इस ढंगके राज्यमे राष्ट्र तो एक ही होता है परन्तु वह राज्यके भिन्न भिन्न कार्यों तथा अधिकारोंको मुख्य राज्य तथा राष्ट्रीयराज्यके रूपमें विभक्त कर देता है ।

अपूर्ण संघराज्य तथा संघराज्यका भेद निम्नलिखित चित्रके द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।



अपूर्ण-संघ राज्य
(Consederation)



पूर्ण संघ राज्य
(Federation)

उपरि लिखित अपूर्ण संघराज्यमें (क ख ग घ.) चार प्रभुत्व-शक्ति-संपन्न राष्ट्र हैं जिनके (१ २. ३, ४) चार ही अपने अपने राज्य हैं। उनका ङ नामक एक ख्यराज्य है। इसी प्रकार उपर्युक्त संघराष्ट्रमें एक ही राष्ट्र है और एक ही मुख्य राज्य है। मुख्यराज्यके साथही साथ (१ २ ३ ४.) छोटे छोटे राष्ट्रीय राज्य हैं। अपूर्ण संघराज्यमें प्रभुत्वशक्ति

प्रत्येक राष्ट्रमें पृथक् पृथक् है। परन्तु संघराज्यमें यह बात नहीं है। उसकी प्रभुत्वशक्ति मुख्य राज्यके ही बीचमें है। उसके राष्ट्रीय राज्य उसीसे शक्ति तथा अधिकार प्राप्तकर काम करते हैं।

अपूर्ण संघराज्य चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता। राष्ट्रोंके ऐतिहासिक विकासका यह एक क्रम है। या तो उसके राष्ट्र पुनः एक दूसरेसे पृथक् हो जाते हैं या फिर यदि यह बात न हुई तो वे संघराज्यके रूपमें परिवर्त्तित हो जाते हैं। आजकल अपूर्ण संघराज्यका एक भी अच्छा उदाहरण नहीं मिलता है। स्विस जर्मन तथा अमरीकन राज्य अपूर्ण संघराज्यके उदाहरण,समझे जा सकते हैं।

(२) सचिवतन्त्र तथा असचिवतन्त्र राज्य।

(क) सचिवतन्त्र राज्य —सचिवतन्त्र राज्य वे हैं जिनमें शासक विभाग नियामक विभागके अधीन होता है। सचिव मंडल के द्वारा ही ऐसे राज्योंमें काम होता है। यही कारण है कि उनका नाम सचिवतन्त्र राज्य रखा गया। ऐसे राज्योंमें नियामक सभाओंकी स्वीकृति तथा अनुमतिके अनुसार ही सचिवमंडल काम करता है। आज कल सभी राष्ट्रोंमें दो सभाओंके द्वारा काम होता है। प्रायः राज्यशक्ति दो सभाओंमेंसे द्वितीय सभाके पास रहती है। जनताके प्रतिनिधि भी इसी सभामें बैठते हैं। इंग्लैंड, इटली तथा नीदर्लैंडमें सचिवतन्त्र राज्य है। फ्रान्सने भी अपनी शासनपद्धतिका निर्माण इंग्लैंडकी विधिपर किया है अतः उसको भी इसी श्रेणीमें रखना चाहिये।

(ख) असंचित्तत्र राज्य —असंचितत्तन्त्र राज्यको प्रधानतन्त्र राज्यके नामसे भी पुकारते हैं। इसमें मुख्य शासक तथा शासक विभाग नियामक सभाके अधीन नहीं होता। शासक विभागको इतनी अधिक शक्ति होती है कि वह नियामक विभागकी ज्यादतियोंसे अपने आपको बचा सकता है। नियामक विभाग जो कुछ कर सकता है वह यही है कि दोषारोपणके द्वारा शासक विभागके किसी व्यक्तिको हटा दे। जर्मनी तथा अमरीकामें इसी ढंगका राज्य है।

§८१—अर्वाचीन राष्ट्रोंका वर्गीकरण।

उपर्युक्त वर्गीकरणके अनुसार यदि अर्वाचीन राष्ट्रोंका वर्गीकरण किया जाय तो राष्ट्रोंका पारस्परिक वैषम्य प्रत्यक्ष हो जाता है। पहला वर्गीकरण स्वेच्छाचारी शासकतन्त्र तथा लोकतन्त्र राज्यका था। यद्यपि भारतमें इंग्लैंड जैसे लोकतन्त्र राज्यका राज्य है तो भी भारतीयोंकी दृष्टिमें भारतका शासन स्वेच्छाचारी शासकतन्त्र है। भारतीय अपनी इच्छाके अनुसार राज्यको चलनेके लिए बाधित नहीं कर सकते। लड़ाईसे पहले ऐसा ही शासन रूम, रूस तथा इरानमें प्रचलित था। चीन भी चिरकाल तक ऐसे ही शासनसे शासित रहा। परन्तु अब रूस, ईरान और चीनमें लोकतन्त्र राज्य है। तीनों ही देशोंको खतरा है कि उनमें भारतकी तरह यूरोपीय राष्ट्रोंका स्वेच्छाचारी शासकतन्त्र राज्य स्थापित न हो जाय।

इंग्लैण्ड, आंग्ल उपनिवेश, जर्मनी, इटली, स्पेन, नीदर्लैंड तथा आस्ट्रिया हंगरीमें लोकतन्त्र शासन ही प्रचलित

है। यद्यपि इनमेंसे बहुतोंमें नाम मात्रकोही एक सम्राट् मुख्य शासकके तौरपर बैठाया हुआ है। अमरीका, स्विट्जर्लेंड तथा फ्रान्समें मुख्य शासक चुना जाता है। उनमें वंश-प्रधान राज्यका सर्वथा अभाव ही है। आज कल जर्मनी भी राज्यक्रान्ति करके इसी श्रेणीमें आ मिला है।

एकात्मक तथा द्वित्वराज्यके वर्गीकरणको सामने रखते हुए अर्वाचीन राष्ट्रोंका विभाग किया जा सकता है। इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स एकात्मक राज्यका ही उदाहरण है। अमरीका, जर्मनी, स्विट्जरलैंड, मैक्सिको, ब्राजील, अर्जन्टाइन रिपब्लिक् तथा वैनन्जुलामें द्वित्वराज्य या राष्ट्रात्मक राज्यका ही प्राधान्य है। अमरीका तथा अमरीकन रियासतें असचिवतन्त्र राज्य पद्धतिसे शासित हैं। जर्मन साम्राज्य, आस्ट्रिया तथा अन्य छोटी छोटी यूरोपीय रियासतें इसी श्रेणीमें रखी जा सकती हैं।

संसारके भिन्न भिन्न राष्ट्रोंको ओर यदि ध्यानसे देखा जाय तो मालूम पड़ेगा कि अमरीका, फ्रान्स तथा जर्मनीमें आजकल निर्वाचनके द्वारा ही मुख्य शासकका चुनाव होता है। परन्तु इंग्लैण्डमें यह बात नहीं है। इंग्लैण्डमें सम्राट वंशागत हैं। इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स एकात्मक और फ्रान्स तथा अमरीका राष्ट्रात्मक या द्वित्व राज्य हैं। इंग्लैण्ड तथा फ्रान्सका राज्य सचिवतन्त्र और अमरीका तथा जर्मनीका राज्य असचिवतन्त्र है। लड़ाईसे पहले जर्मनीमें सम्राट वस्तुतः शासक था, इंग्लैण्डमें वह नाममात्रको है। अमरीकामें निर्वाचन द्वारा चुना गया प्रधान महाशक्तिशाली और फ्रान्समें वही सर्वथा अशक्त है। अमरीका और जर्मनी-

के प्रधान तथा सम्राट् और इंग्लैण्ड तथा फ्रांसके सम्राट तथा प्रधान एक ही श्रेणीके हैं।

अर्वाचीन राष्ट्रोंमें जनता तथा राज्यका सम्बन्ध तथा राज्यका कार्य्यक्रम बहुत अंशोंमें समान है। प्रत्येक राष्ट्रमें जनताकी इच्छाके अनुसार ही काम होता है और व्यक्तियोंको उचित सीमा तक स्वातन्त्र्य मिला हुआ है। राष्ट्रों तथा राज्योंका विस्तार भिन्न भिन्न होते हुए भी व्यक्तियोंसे उनका सम्बन्ध तथा उनका कार्यक्रम बहुत अंशो तक एक दूसरेसे मिलता है।

संसारकी गति स्वेच्छाचारी शासनसे लोकतन्त्र शासनकी ओर है। जो राष्ट्र आजसे कुछ साल पहले स्वेच्छाचारी सम्राटोंसे शासित थे, आज वह लोकतन्त्र शासन पद्धतिमें प्रविष्ट हो गये। इसी महायुद्धमे जर्मनी पोलैंड तथा रूसने स्वेच्छाचारी सम्राटोंका भार अपने कन्धोंपरसे उतार कर फेंक दिया और लोकतन्त्र राज्यप्रणालीवाले राष्ट्रोंके साथ आ मिले। जहां अभी तक ऐसा परिवर्त्तन नहीं हुआ वहां भी हो जायगा। मिश्र भारत तथा ईरानमे भयंकर आन्दोलन जारी है। वंशका प्राधान्य दिनपर दिन लुप्त हो रहा है। नये नये राष्ट्रोंने संगठनमे इस तत्वका सर्वथा ही परित्याग कर दिया। यूरोपके सभी राष्ट्रोंमें वंशागत सम्राटोंने अपने शासन सम्बन्धी अधिकारोंको मंत्रिमंडलके हाथमें दे दिया है। वंशके तत्वपर आश्रित प्रथम सभाओंकी शक्ति द्वितीय सभाके हाथमें चली गयी। राज्यसेवकोंकी नियुक्तिमें परीक्षा, निर्वाचन, प्रत्यक्ष चुनाव आदिमेंसे किस विधिसे काम किया जायगा इसका निर्णय

दुःसाध्य है, परन्तु इसमें सन्देह भी नहीं है कि इन मामलोंमें जन्म तथा वंशके तत्वका प्रयोग न किया जायगा।

अपूर्ण संघराज्य या संघराज्यकी ओर जनताका झुकाव है इसका निर्णय करना कठिन है। परन्तु इसमें सन्देह भी नहीं है कि अपूर्ण संघराज्यमें चिरकालसे परिणत राष्ट्र-संघराज्यकी ओर झुक रहे हैं। इसके विपरीत संघराज्यमें चिरकालसे राष्ट्र स्थानीय राज्योंको कुछ स्वतन्त्रता दे रहे हैं और इस प्रकार शासन शासित कार्य्यमें अपूर्ण सङ्घराज्यके सिद्धान्तको काममें ला रहे हैं। स्थानीय स्वराज्यका प्रचार दिनपर दिन बढ़ता जा रहा है।

सचिवतन्त्र तथा असचिवतन्त्र राज्यके मामलेमें भी यही बात है। सचिवतन्त्र राज्योंमें शासक विभाग अधिक अधिक स्वतन्त्रताका यत्न कर रहा है और असचिवतन्त्र-राज्योंमें इसके विपरीत नियामक विभागका शासक विभाग-के साथ सम्बन्ध दृढ़ किया जा रहा है।

अर्वाचीन राष्ट्रोंका दिग्दर्शन इस बातका सूचित करता है कि संसारके भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके लिए भिन्न भिन्न राज्य-पद्धति ही उपयुक्त है। समय, स्थान तथा सभ्यताके भेदसे कोई देश सचिवतन्त्र और कोई देश असचिवतन्त्र होगा। कहीं द्वित्वात्मक राज्य और कहीं एकात्मकराज्य होगा। स्थानीय राज्य तथा मुख्य राज्यके पारस्परिक सम्बन्ध भी सब राष्ट्रोंमें एक सदृश नहीं रहेंगे। अमरीका सङ्घराज्य-को और इङ्गलैण्ड साम्राज्यको दृढ़ कर रहा है। इङ्गलैण्ड-का सचिवमंडल शासन विभागसे अपना पीछा छुड़ाना चाहता है और अमरीकाका शासन-विभाग उसी जालमें

दलोंकी प्रधानताके कारणके फंसना जा रहा है। सारांश यह है कि राष्ट्रोंकी अपनी अपनी समस्यायें हैं। उनसे प्रेरित होकर सभी राष्ट्र अपना अपना मार्ग ले रहे हैं। निस्सन्देह सभी राष्ट्रोंमें जनताके शासनका प्रचार होगा और जहां जहां ऐसा नहीं है वहां वहां भी परिवर्त्तन उपस्थित है। समयके परिपक्व होने ही जर्मनी तथा रूसकी तरह वहां-पर भी लोकतन्त्रशासनपद्धति प्रचलित हो जायगी। परन्तु यह सब होने हुए भी राष्ट्रोंका भेद न मिटेगा। जिस-को जिस ढंगका लोकतन्त्रशासन अनुकूल होगा उसीका वह अवलम्बन करेगा।

द्वितीय भाग ।

राजनीति शास्त्र !

पहिला परिच्छेद ।

शक्तिसंविभाग ।

§ ८२. *शासक, नियामक तथा निर्णायक शक्तिका स्वरूप ।*

राष्ट्रका स्वरूप, विकास तथा ह्रास आदि अनेक तत्वोंपर पूर्वभागमें प्रकाश डाला जा चुका है। उन्हीं तत्वोंपर एक नयी शैलीसे इस भागमें प्रकाश डाला जायगा। राज्य राष्ट्रका एक प्रधान अंग है। राज्यपद्धतिकी उत्तमता तथा अनुत्तमतापर राष्ट्रके जीवनमरणका आधार है।

राजनीतिज्ञोंका मत है कि उत्तम राज्यपद्धति वही है जिसमें उसकी प्रधान प्रधान शक्तियोंका पूर्ण तौरपर संतुलन हो। राज्य मुख्यतया शासन, नियमन तथा निर्णय संबन्धी कामोंको ही करता है। अति प्राचीनकालमें इन कामोंका बहुत महत्त्व था। आजकल समाजकी आकृति विषम तथा विशाल है। उसके कार्य विस्तृत तथा उलझनसे परिपूर्ण हैं। यही कारण है कि इन कामोंका महत्त्व बहुत ही अधिक बढ़ गया है। न्यायाधीश स्टारीने 'कामेन्टरीज़ आन दि कान्स्टिट्यूशन'

नामक ग्रन्थमें लिखा है कि अर्वाचीन राज्योंकी नियामक शक्ति ही सब शक्तियोंमें प्रधान है। निस्सन्देह किसी हद्दतक यह सत्य है। शासनपद्धतिको धाराओं तथा सिद्धान्तों-की सीमातक इसकी सत्यतापर सन्देह नहीं किया जा सकता है। परन्तु कार्य रूपमें लिखित नियमोंकी स्थिति बदल जाती है। सामाजिक परिस्थितिके चक्रमें पड़कर कुछका कुछ हो जाता है। दृष्टान्तस्वरूप शासकविभागकी शक्ति लिखित नियमोंके अनुसार नियामकशक्तिके अधीन होती हुई भी कार्यरूपमें उसके अधीन नहीं रहती। सन्धि विग्रह, दूत-प्रचार जैसे कामोंको करनेमें यह बहुत कुछ स्वतन्त्र होजाती है। जलथल-सेना तथा पुलिसपर पूर्ण नियंत्रण होनेसे शासकशक्ति नियामकशक्तिपर महत्व प्राप्त कर लेती है। नियम कैसे ही क्यों न हों उनका कहांतक पालन हो और उनमें कहांतक शिथिलतासे काम लिया जाय इसका निर्णय एकमात्र शासक विभागके हाथमें है। यह वह शक्ति है जिसके द्वारा वह कठोरसे कठोर नियमोंको मृदु बना-सकता है और मृदुसे मृदु नियमोंको भयंकर अत्याचारपूर्ण नियमोंका रूप देसकता है।

संख्याके विचारसे, भी शासकविभाग महत्त्वपूर्ण है। अमरीकामें शासक-विभागके सभ्योंकी संख्या ३००००० है जब कि निर्णायक विभागके और नियामकविभागके सभ्योंकी संख्या क्रमशः १४० तथा ४७६ से ऊपर नहीं पहुंचती। जनताका दैनिक संबन्ध शासकोंसे है न कि नियामकोंसे। इसीलिये वैयक्तिक स्वतंत्रताकी रक्षा तथा नाश किसी हद्दतक शासक विभागके ही हाथमें है।

शासकविभागके सदृश ही बहुतसे राष्ट्रोंमें निर्णायक शक्तिका प्राधान्य है। अमरीकामें राज्यनियमोंको शासन-पद्धतिकी धाराओंके प्रतिकूल सिद्धकर निर्णायक विभाग नियामकविभागके कार्योंको मटियामेट कर सकता है। यही कारण है कि आजकल राज्यकी तीनों ही शक्तियां अपने अपने क्षेत्रमें प्रधान समझी जाती हैं। तीनोंका ही एक दूसरेपर अवलंबन होनेसे कौन गौण है और कौन प्रधान, इसका निर्णय कठिन हो गया है। शक्तिसंविभाग शक्तिपार्थक्य (the separatoin of powers) तथा शक्ति विभजन (the division of powers) नामक दो भागोंमें विभक्त किया जाता है।

(१) शक्तिपार्थक्य (the separation of powers):—नियामक, शासक तथा निर्णायक शक्तियां राज्यकी प्रधानतम शक्तियां हैं। नियम बनाना नियामकशक्तिका, नियमोंको प्रचलित करना तथा अपराधियोंको दंड देना शासक-शक्तिका और अपराधियोंके अपराधका निर्णय करना निर्णायकशक्तिका मुख्य कार्य्य है। सिद्धान्तमें तीनों ही शक्तियां एक दूसरेसे पृथक् हैं परन्तु कार्य्यरूपमें तीनों ही एक दूसरे-पर अवलंबित हैं। नियमके बिना निर्णय और निर्णयके बिना शासन नहीं चल सकता।

(२) शक्तिविभजनः—राज्यकी शक्तियोंका कितने क्षेत्रपर और कहां कहां प्रभुत्व है इसको सामने रखते हुए निम्न-लिखित विभाग किये जाते हैं।

(क) स्थानीय राज्य

(ख) मुख्य राज्य

(ग) औपनिवेशिक राज्य
(घ) संघान्तर्गत राष्ट्र राज्य
(ङ) अधीन राज्य
(च) नागरिक प्रबन्ध
(छ) ग्राम्य प्रबन्ध

मुख्य राज्यका स्थानीय राज्यसे और स्थानीय राज्यका ग्राम तथा नगर प्रबन्धसे क्या संबन्ध है और इसी प्रकार मुख्य राज्यका संघांतर्गत राष्ट्र राज्य, अधीन राज्य तथा औपनिवेशिक राज्यसे क्या व्यवहार है और क्या होना चाहिये—इत्यादि प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इन्हींपर प्रकाश डालनेके लिये अगले परिच्छेदोंमें लिखा जायगा और जहां तक हो सकेगा भिन्न भिन्न राष्ट्रोंकी वास्तविक स्थिति सामने रखी जायगी।

§८३. *शक्तिसंविभागका सिद्धान्त ।*

राजनीतिशास्त्रमें शक्तिसंविभाग सिद्धान्त बहुत ही महत्व-पूर्ण है। नियामक, शासक तथा निर्णायक यही तीन राज्यके प्रधान काम हैं। इन कामोंको पृथक् पृथक् विभागोंके द्वारा ही करना चाहिये। जिस विभागके पास नियामक-शक्ति हो उसका निर्णय तथा शासनसे कुछ भी संबन्ध न हो, जिस विभागके पास शासक-शक्ति हो उसका निर्णय तथा नियम बनानेसे कुछ भी लगाव न हो और इसी प्रकार निर्णायकशक्ति नियामक तथा शासक-शक्तिसे रहित हो—यह सिद्धान्त शक्तिसंविभाग सिद्धान्तके नामसे पुकारा जाता है। महाशय मांटस्क्यूने इसीको इस प्रकार प्रकट

किया है—"यदि नियामक तथा शासकशक्ति किसी एक व्यक्ति या समूहके पास इकट्ठी हो तो जातिकी स्वतन्त्रताका नाश होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि जातिको इस बातका सदा ही भय बना रहेगा कि राजा या राष्ट्रसभा स्वेच्छाचारी नियम बनाकर स्वच्छन्दतासे ही उनका प्रयोग करेगी। इसी प्रकार यदि निर्णायकशक्ति नियामक तथा शासकशक्तिसे सर्वथा पृथक् न कर दी जाय तथा वह यदि नियामक शक्तिकी सहायक बना दी जाय तो जो नियम बनानेवाला होगा वही न्यायाधीश भी हो जायगा। परिणाम इसका यह होगा कि जातिके व्यक्तियोंका जानमाल एकमात्र न्यायाधीशोंके हाथमें चला जायगा और कहीं यदि निर्णायक शक्ति शासकोंके ही हाथमें दे दी जाय तब तो अत्याचारका होना आवश्यक ही है, क्योंकि जो किसी व्यक्तिपर अपराध लगानेवाला होगा वही उस व्यक्तिके अपराधका निर्णय करनेवाला भी होगा।" मांटस्क्यूके सदृश ही राष्ट्रके सेन्द्रिय सिद्धान्तके पोषक महाशय ब्लुन्द्श्लीका मत है कि "किसीके हाथमें अत्यन्त अधिक शक्तिका दे देना राष्ट्रके लिये भयानक होता है। यदि ऊपर लिखी तीनों शक्तियां पृथक् पृथक् व्यक्तियों तथा समुदायोंके हाथमें दे दी जायं तो इससे राष्ट्रमें जहां किसीकी भी शक्ति अधिक नहीं होने पाती वहां कार्य्य भी समुचित रीतिपर चलता है। एक ही व्यक्ति या समुदाय तीनों कार्योंको उस योग्यतासे संपादित नहीं कर सकता जिससे वह केवल एक ही कार्यको कर सकता है। परमात्माने शरीरमें आंखें देखनेके लिये, कान सुननेके लिये दिये हैं। जब परमात्माने शरीरके कार्यको उचित ढंगपर

चलानेके लिये भिन्न भिन्न इंद्रियोंको दिया है तब राष्ट्ररूपी शरीरके कार्यको भी अच्छी तरहसे चलानेके लिये 'शक्ति-संविभाग'के सिद्धान्तका ही अवलंबन करना ठीक मालूम पड़ता है"।* इंग्लैण्डके प्रसिद्ध राज्यनियमज्ञाता ब्लैकस्टनका भी यही मत है। उसने 'कामन्टरीज़ आन दि लाज़ आव इंग्लैण्ड' (१७६५) नामक ग्रंथमें लिखा है कि "सभी स्वेच्छाचारी राज्योंमें मुख्य शासक ही राज्यनियम बनाता है और वही उनका प्रचार करता है। ये दोनों शक्तियां जिस देशमें एक ही व्यक्ति या व्यक्तिसमूहके पास हों, वहां व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रता कुछ भी नहीं समझी जाती"।

गंभीर तौरपर विचार किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि यह सिद्धान्त अति प्राचीन है। अरस्तूने राजकीय विभागों-पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "यूनानमें सबसे पहले ज्ञानसभा, उसके बाद शासकविभाग और तीसरे दर्जेपर निर्णायक विभाग है"। रोमन शासनपद्धतिको सामने रखते हुए पालीबियसने लिखा है कि "रोमराज्यका सबसे अधिक सौन्दर्य इस बातमें है कि भिन्न भिन्न विभागोंकी शक्ति एक दूसरे विभागको स्वेच्छाचारसे रोकती है"। बाइज़न्टाइन साम्राज्यमें तो सैनिक प्रबन्धसे नागरिक प्रबन्ध जुदा किया गया था। अर्वाचीन राष्ट्रोंने इस विभागको अबतक कायम रखा है। रोमन साम्राज्यके अधःपतन-कालमें यूरोपमें मांडलिक शासकोंका प्रभुत्व बढ़ा। इन्होंने शक्ति-संविभाग सिद्धान्तका परित्याग कर स्वेच्छाचारी बननेका यत्न किया। व्यापार-व्यवसाय बढ़नेके साथ साथ यूरोपीय

* देखो मान्टेस्क्यो-दि स्पूरी आव् दि लॉज़. बुक ७. चैप्टर ७।

राष्ट्रोंमें जातीयताके भावोंका उदय हुआ। स्वेच्छाचारी मांडलिक शासकोंके निरंकुश शासनको नष्ट करनेके लिये नागरिकोंने प्रयत्न करना शुरू किया। ज्यों ज्यों उनको सफलता मिली त्यों त्यों जनतन्त्र शासनपद्धतिके सिद्धान्तों-पर विचार किया गया। समय आया जब कि शक्ति-संविभाग सिद्धान्तने प्रभुत्व प्राप्त किया। महाशय बोदिनने उद्घोषित किया कि राजा शासनके सिवाय और कोई काम न करे। निर्णयका काम न्यायाधीशोंके ही हाथमें दे देना चाहिये। इसके बाद लाक तथा मांटस्क्यूने शक्तिसंविभाग सिद्धान्तमें नया जीवन फूंका। अर्वाचीन राजनीतिज्ञ मांटस्क्यू-को ही शक्तिसंविभाग सिद्धान्तका जन्मदाता समझते हैं।

§८४—अमरीका तथा फ्रान्समें शक्तिसंविभाग सिद्धान्तका प्रभाव।

अठारहवीं सदीके यूरोपीय राजनीतिज्ञ शक्ति संविभाग सिद्धान्तके इतने अन्धभक्त हो गये कि उन्होंने इसको त्रैका-लिक सत्य या ईश्वरीय नियम समझ लिया। जो शासन-पद्धति बनायी गयी उसका आधार इसीपर रखा गया। अमरीकाने स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके बाद जो शासन-पद्धति बनायी उसमें शक्ति-संविभाग सिद्धान्तका पूर्णतौरपर प्रयोग किया। यही कारण है कि वहां राष्ट्रीय गवर्नरका चुनाव जनताकेद्वारा होता है और वह नियामक सभाको विसर्जन नहीं कर सकता। नियामक सभाके सभ्य पृथक् तौरपर जनताद्वारा निर्वाचित होते हैं और शासकोंकी कुछ भी पर-वाह न कर राज्यनियम बनाते हैं। मैसाचसेट्सकी शासन-पद्धति संबन्धी धाराओं (भाग १ धारा ३०, सन् १७८०)

में लिखा है "कि इस राष्ट्रके राज्यमें नियामक-विभाग निर्णय तथा शासनकी शक्तिका प्रयोग न करेगा, शासक-विभाग निर्णय तथा नियम-निर्माणकी शक्तिका प्रयोग न करेगा और निर्णायक विभाग नियमनिर्माण तथा शासनकी शक्तिको काममें न लावेगा। साराश यह है कि यहां राज्यनियमोंके अनुसार राज्य होगा न कि मनुष्योंके अनुसार"। संवत् १८४४ (सन् १७८७) की राजनीतिक सभामें भी इसी सिद्धान्तके अनुसार काम किया गया। इसमें सन्देह भी नहीं है कि सभाके सभ्योंको शक्तिसंविभाग सिद्धान्तकी सचाईपर कुछ कुछ सन्देह हो गया था परन्तु अन्तमें उन्होंने उसीके आधारपर अमरीकाकी शासनपद्धतिका निर्माण किया। हैमिल्टन, मैडीसन तथा जे जैसे शासनपद्धतिनिर्माताओंके शब्द हैं कि "एकही के हाथमें नियामक, शासक, तथा निर्णायक-इन तीन शक्तियोंका होना चाहे वह वंशागत हों और चाहे निर्वाचित हों—निरंकुश शासनका ही दूसरा रूप है।"

परन्तु यह सब होते हुए भी, संवत् १८३३ तथा १८३४ (सन्१७७६ तथा १७७७) की संघान्तर्गत राष्ट्रोंकी शासनपद्धतिमें और संवत् १८४४ (सन् १७८७) की मुख्य राज्यकी शासनपद्धतिमें शक्तिसंविभागका सिद्धान्त पूरे तौर पर काममें लाया गया। इसीसे स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि शक्तियोंका पार्थक्य तथा विभजन कहां तक संभव है और शक्तिसंविभाग सिद्धान्त कहां तक कार्यरूपमें परिणत किया जा सकता है। कार्य्यरूपमें शक्तिसंविभाग सिद्धान्त जो कुछ कर सकता है वह यही है कि जनता ही

पृथक् पृथक् तौरपर शासक, नियामक तथा निर्णायक विभागका निर्वाचन करे। परन्तु प्रश्न तो यह है कि यदि शासक स्वयं राज्यनियमोंको तोड़ें तो उनके अपराधका निर्णय कौन करे। निर्णायकविभाग तो यह काम नहीं कर सकता, क्योंकि इससे शक्तियोंका पार्थक्य कहां रहा? इसी प्रकार शासकविभाग किन नियमोंके अनुसार शासन करे? यदि यह कहा जाय कि नियामकविभाग द्वारा पास किये गये नियमोंके अनुसार ही वह शासन करे तो शक्तिसंविभाग सिद्धान्त कहां रहा? यही दोष निर्णायक विभागके सिद्धान्तमें उपस्थित होता है। सारांश यह है कि राज्यके तीनों ही विभाग एक दूसरेके साथ जुड़े हुए हैं। एक विभाग नियम बनाता है, दूसरा उसके अनुसार निर्णय करता है और तीसरा निर्णयको काममें लाता है। कौन किससे पृथक् किया जाय? यह होते हुए भी तीनोंके काम एक दूसरेसे जुदा हैं। यही कारण है कि शक्तिसंविभाग सिद्धान्त पूर्णतौरपर सत्य नहीं माना जाता।

अमरीकाके सदृश ही फ्रांसमें भी शक्तिसंविभाग सिद्धान्तके अनुसार ही शासनपद्धतिका निर्माण किया गया। संवत् १८४६ (सन् १७८६) की राजनीतिक सभाने इसको आधार मानकर ही शासनपद्धतिका ढांचा तय्यार किया। अधिकार-उद्घोषणा (Declaration of Rights) की सोलहवीं धारामें लिखा है कि "जिस समाजमें शक्तिसंविभाग सिद्धान्तका प्रचार नहीं है उसमें लोकतन्त्र-शासन-पद्धति नहीं मानी जा सकती।" यही कारण है कि उसने यह नियम बनाया कि राजा नियामक

सभाओंको विसर्जित नहीं कर सकता, सचिवमंडल तथा शासकवर्ग नियामक सभाओंमें नहीं जा सकते तथा न्यायाधीशोंका निर्वाचन जनता ही करे। उसके बाद संवत् १८५२ (सन् १७९५) में जो शासनपद्धति बनी उसमें उपर्युक्त नियम किसी हद्दतक शिथिल कर दिया गया।

सारांश यह है कि शक्तिसंविभाग सिद्धान्तके अनुसार अठाहरवीं सदीमें बहुत सी शासनपद्धतियां बनीं, परन्तु उनमें कुछ ऐसे दोष थे जिससे उनका पूरे तौरपर प्रयोग न किया जा सका। आजकल भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें इनका कहां तक प्रयोग है अब इसीपर प्रकाश डाला जायगा।

§ ८५ *अर्वाचीन राष्ट्रोंमें शक्तिसंविभाग ।*

भिन्न भिन्न राजकीय शक्तियोंके पारस्परिक प्रतिरोध तथा संतुलनके द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी रक्षा की जा सकती है, इसपर अठारहवीं सदीके राजनीतिज्ञ लगभग एकमत थे। अमरीका तथा फ्रांसकी शासनपद्धतियोंका आधार इसीपर रखनेका यत्न किया गया परन्तु सफलता न मिली। कुछ समयसे शक्तिसंविभाग सिद्धान्तमें राजनीतिज्ञोंकी पूर्ववत् श्रद्धा रही है। यह होते हुए भी बड़े बड़े राष्ट्रोंमें उसका प्रभाव नहीं भूला जा सकता।

अर्वाचीन राष्ट्रोंमें निर्णायक विभाग सब विभागोंसे पृथक् है। उसकी स्थिति सब विभागोंके नियंत्रणसे स्वतंत्र है। न्यायाधीशोंका पद इतना स्थिर रहता है कि उनको आजीवन कोई पदच्युत नहीं कर सकता। बहुतसे अन्याय तथा अत्याचारके काम जब कोई न्यायाधीश करे तो वह

दोषारोपणके द्वारा पृथक् किया जा सकता है। यह होते हुए भी निर्णायक, शासक या नियामक आदि कोई भी दल उनको पक्षपातके लिये प्रेरित नहीं कर सकता। उनके कार्य परिमित तथा सुरक्षित हैं, सभी राज्योंका यत्न है कि वे धन, तृष्णा या लोभके वशीभूत न हो सकें।

अमरीकामें मुख्य न्यायालय(Supreme Court)का आधार शासनपद्धतिकी धाराओंके ऊपर है। परन्तु अन्य न्यायालयोंकी उसमें कोई स्थिति नहीं है। यही कारण है कि नियामक विभागके द्वारा ही उनका निर्माण होता है और वही इच्छानुसार उनको मटियामेट कर सकता है। इससे नियामकों तथा निर्णायकोंका न्यायाधीशोंपर अन्याययुक्त प्रभाव तथा दबदबा बना रहता है। इसके अतिरिक्त अमरीकाके छोटे छोटे राज्योंमें नियामक तथा शासक विभागके अधिकारी बहुतसे ऐसे कार्य करते हैं जिनको एक तरीकेसे निर्णायक विभागके क्षेत्रमें रखना चाहिये। सबसे विचित्र बात तो यह है कि वहाँके न्यायालय अपने कामके साथ साथ राज्यनियम बनाते हैं और उनका संचालन तथा प्रचार भी करते हैं। अमरीकन नियामक विभाग राज्यनियम बनानेके साथ साथ दोषारोपणके समय न्यायालयका रूप धारण कर लेता है और अंतिम प्रार्थना (Appeal) का निर्णय भी स्वयं ही करता है। शासक विभाग अपराधको क्षमाकर सकता है और इस प्रकार निर्णायकका काम करता है। अपने कार्यक्रम तथा न्यायालयान्तर्गत विभागके लिये नियम बनाना तथा उनका प्रचार करना अमरीकन न्यायालयोंके ही हाथमें है, यही कारण है कि उनको बहुधा शासक विभागके

कार्योंको करना पड़ जाता है। अमरीकामें छोटे छोटे न्याया-लय शासन तथा निर्णयके कार्मोको करते हैं। बड़े बड़े न्यायालय परिवर्तित अर्थ, शासनपद्धतिके प्रतिकूल नियम आदि बातोंके सहारे राज्यनियमोंका अस्तित्व नष्ट कर सकते हैं।

यूरोपमें इंग्लैण्ड तथा अमरीकासे विपरीत दशा है। वहां शक्तिसंविभाग सिद्धान्तका प्रयोग किसी दूसरे ढंगपर ही किया गया है। इंग्लैण्ड तथा अमरीकाने चिरकालके विग्रहके बाद स्वातंत्र्य प्राप्त किया। उनको शासकोंके विरुद्ध समय समयपर लड़ना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि शासक कर्त्तव्यपालनके समयमें तो शासक माने गये परन्तु उसके बाद उनकी स्थिति साधारण नागरिकोंसे भिन्न न रखी गयी। परन्तु यूरोपमें राज्यक्रान्तिसे ही शासन-सूत्रको जनताने अपने हाथमें लिया। फ्रांसमें शासकोंके कर्त्तव्यका क्षेत्र विस्तृत है और उनके अधिकार अधिक हैं। वे साधारण नागरिकोंसे भिन्न समझे जाते हैं। यही कारण है कि उनके अपराधोंका निर्णय शासक-न्यायालयके द्वारा किया जाता है। इससे फ्रान्समें वैयक्तिक स्वतन्त्रता बहुत सुरक्षित नही हैं। जनताके हाथमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है जिससे वह शासकोंके स्वेच्छाचार तथा विस्तृत अधिकारका नियंत्रण करसके।

अर्वाचीन राष्ट्रोंमें शक्तिसंविभाग सिद्धान्तका प्रयोग नियामक तथा शासक विभागके निर्माणमें किया गया है। पूर्वमें ही लिखा जा चुका है कि राष्ट्रोंमें दो प्रकारके राज्य प्रचलित हैं। एक तो सचिवतन्त्र (parliamentary) और

दूसरा असचिवतन्त्र (non-parliamentary)। सचिवतन्त्र राज्योंमें प्रायः एक ही संस्थाके पास राष्ट्रकी नियामक तथा शासकशक्ति विद्यमान है । नियामक सभाकी समितिके रूपमें सचिवमंडल राज्य-नियमोंको बनवाता है और शासक-विभागके रूपमें उनका प्रयोग करता है । उसका अस्तित्व तभी तक है जब तक कि जनताका बहुमत उसके साथ है । परन्तु ज्योंही जनताने अपना सहारा हटाया, सचिवमंडलको इस्तीफा दे देना पड़ता है । जनताके बहुमतपर आश्रित होते हुए भी सचिवमंडल ही शासक तथा नियामकशक्तिका प्रयोग करता है जो शक्तिसंविभाग सिद्धान्तके प्रतिकूल है। मान्टेस्क्यूके समयमें भी इंग्लैण्ड इसी शैलीपर शासित होता था । उसके बाद फ्रांस, इटली तथा अन्य बहुतसे यूरोपीय राष्ट्रोंने इंग्लण्डकी सचिवतन्त्र-शासनपद्धतिका अनुकरण किया । वस्तुतः इंग्लैण्डमें नियामकविभागका ही शासक-विभागपर नियंत्रण है । फ्रान्समें तो नियामकविभागने संपूर्ण शक्ति अपने हाथमें लेली है और शासकविभागको पूरेतौर-पर अपने कब्जेमें कर रखा है । सं० १८३८–१८४६ (सन् १७८१-१७८६) के कांफिडरेशन कालमे अमरीकाने भी सचिवतन्त्र शासनपद्धतिका प्रयोग किया । कांग्रेसने निर्णायक तथा शासकविभागपर पूरेतौरपर अपना नियंत्रण स्थापित किया । परन्तु अन्तमें उसने इस ढंगकी शासनपद्धतिको छोड़ दिया और प्रधान तन्त्र-शासनपद्धतिका ही अवलंबन किया ।

असचिवतन्त्र शासन पद्धतियोंमें शासक विभाग समय तथा स्थितिको सामने रखते हुए नियामक विभागके नियंत्रणसे पृथक् है । कुछ ऐसी भी सीमायें हैं जहां

तक वह स्वच्छंद तौरपर काम कर सकता है परन्तु नियामक-विभाग उसके कामोंमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। अमरीका तथा अमरीकन राष्ट्रोंमे यही बात मौजूद है। लड़ाईसे पहले जर्मनीकी भी यही हालत थी। संसारका कोई भी राष्ट्र नहीं है जहां शक्तिसंविभाग सिद्धान्त पूरेतौरपर कार्य करता हुआ दिखायी पड़े। माना कि नियामक सभाएं ही शासकोंका चुनाव करती हैं और जलथल सेनापर उनका नियंत्रण स्थापित करती हैं, परन्तु लड़ाईके दिनोंमें शासक-विभाग-का जो अधिकार बढ़ जाता है यह भी भूला नहीं जा सकता है। इसके विपरीत नियामकविभाग राज्यकर, राज-कीय आयव्यय तथा दोषारोपणकेद्वारा उन कार्योंको करते हैं जो कि शासकशक्तिके क्षेत्रमें हैं। लड़ाईसे पहले जर्मनीमें तो शक्तिसंविभाग सिद्धान्तका बहुत ही कम प्रयोग था। सम्राट्का शक्ति बहुत ही अधिक थी। प्रशियामें तो वह नियामकशक्तिका भी प्रयोग करता था; अपने प्रति-निधियोंकेद्वारा सम्राट् जलस्थलसेना तथा राष्ट्रीय आय-व्यय संबन्धी आवश्यकसे आवश्यक संशोधनोंको कर सकता था। यहांपर ही बस नहीं, वह जिन प्रस्तावोंको चाहे अपने प्रतिनिधियोंके द्वारा नियामक सभामें भेज सकता था और किसी हद तक पास भी करवा लेता था।

अर्वाचीन राष्ट्रोंमें भिन्न भिन्न शक्तियोंका क्या पारस्परिक संबन्ध है यह संक्षेपसे इस प्रकार दिया जा सकता है। अमरीकामें शासकविभाग नियामकसे बहुत कुछ स्वतन्त्र है। कुछ मामलोंमें उसको न्यायालयोंके सामने सर झुकाना पड़ता है। फ्रान्समें शासकविभाग नियामक विभागके बहुत ही

अधिक अर्थ.न है, परन्तु न्यायालयोंका उसके कार्योंपर कुछ भी नियंत्रण नहा है। जर्मनीमें ल ़ाईसे पहले शासकविभाग-पर न्याायालय तथा नियामकविभागका कुछ भी नियंत्रण न था। इंग्लेण्डमें शासकविभाग नियामकविभागके अधीन है और समय समयपर उसका न्यायालयोंके सामने भी सर झीका करना पड़ता है

§८६. शक्तिसंविभाग सिद्धान्तकी आलोचना।

शक्तिसंविभाग सिद्धान्तमें बहुत कुछ सचाई है। सभी सभ्य राष्ट्रोंमें भिन्न भिन्न कार्यांके करनेमें श्रमविभाग (Division of labour) सिद्धान्तका सहारा लिया जाता है। जो जिस कार्यके करनेमें योग्य हो उसको वही कार्य करनेके लिये दिया जाता है। इसीसे यह भी परिणाम निकला कि नियामक, शासक तथा निर्णायक जैसे महत्व-पूर्ण काम भिन्न भिन्न विभागके हाथमें होना चाहिये। कोई एक विभाग तीनों कामोंको एक साथ सफलतासे नहीं कर सकता। निर्णायकविभागके पार्थक्य तथा स्वातन्त्र्यमें सभी राष्ट्र सहमत हैं। इंग्लैंडकी जनता सचिवतंत्र शासन-पद्धतिकी अनन्य भक्त है। उसका ख्याल है कि इस शैलीसे काम करनेपर जल्दबाजी नहीं होती और जनताके मनका उचित ढंगपर आदर होता है। इसके विपरीत अमरीकन राज-नीतिज्ञ शासकविभागकी स्वतन्त्रताको ही उत्तम समझते हैं।

राजकीय शक्तियोंके पार्थक्य तथा विभजनको आवश्यक मानते हुए भी शक्तिसंविभाग-सिद्धान्त पूर्णतौरपर सत्य नहीं। इंग्लैण्डकी राज्य-प्रणाली इस बातको सूचित कर रही

है कि शक्तियोंके पार्थक्य तथा विभजनके बिना भी वैयक्तिक स्वतन्त्रताको सुरक्षित करनेके लिये यह आवश्यक है कि संपूर्ण अधिकार तथा शक्तियां उस संस्थाके पास हों जो कि जनताकी पूर्णतौरपर प्रतिनिधि हो और जनताकी इच्छाका प्रतिबिम्ब हो। वस्तुतः लोकतन्त्र शासनपद्धतिका तात्पर्य भी यही है कि संपूर्ण अधिकार तथा शक्तियां जनताके हाथमें रहें और यदि वह उनका प्रयोग प्रत्यक्ष तौरपर करनेमें असमर्थ हों तो वह अपने प्रतिनिधियोंको अपने संपूर्ण अधिकार तथा शक्तियां दे दे। शक्तियोंका पूर्णतौरपर पार्थक्य स्थापित करना शासनपद्धतिको चकनाचूर कर अराजकता उत्पन्न करना होगा। राष्ट्रके सभी अंग किसी न किसी अंश तक सभी कामोंको करते हैं। कुछ हद तक ही शक्तियोंका पार्थक्य रहता है परन्तु उसके बाद उस पार्थक्यको कायम रखनेका यत्न करना भयंकर भूल करना होगा। राष्ट्रके निम्नलिखित अंग उपरिलिखित विचारको पूरेतौरपर पुष्ट करते हैं।

(१) शासनपद्धति निर्माण करनेवाली संस्था.—यह राष्ट्रकी इच्छाको सूचित करती है। व्यक्तियोंके क्या क्या अधिकार हों और राज्यकी शासनपद्धति कैसी हो इत्यादि प्रश्नोंका निर्णय यही संस्था करती है।

(२) नियामक विभाग.—यह राष्ट्रकी इच्छा तथा मतको उस हद्दतक प्रकाशित करता है जहां तक कि शासनपद्धतिकी धाराओंमें उसका कुछ भी उल्लेख नहीं है।

(३) शासक विभागः—नियामकविभाग जिन जिन बातोंको छोड़ जाता है या जिन जिन बातोंपर उसका ध्यान नहीं जाता

है, शासकविभाग उपनियमोंको बनाकर उन बातोंका प्रचार करता है ।

नियम-निर्माण तथा राष्ट्रकी इच्छाको प्रकाशित करनेके सदृश ही उनको काममें लाना निम्नलिखित अंगोंके हाथमें है ।

(१) निर्णायक विभाग:—विवादग्रस्त मामलोंमें यही विभाग नियमोंका प्रयोग करता है ।

(२) शासक विभाग.—राष्ट्रके मत तथा इच्छाका जनतामें कहां तक आदर है इसका निरीक्षण शासकविभाग ही करता है ।

(३) शासक दल:—यह राज्यके कार्योंको ही करता है ।

राज्य राष्ट्रका ही अंग है । राष्ट्रकी इच्छा तथा मतको काममें लाना ही राज्यका मुख्य काम है । स्वाभाविक ही है कि उसके अंगोंमे पारस्परिक संघर्ष न हो । एकमत होकर सबका काम करना आवश्यक है चाहे वे पृथक् पृथक् कामोंको ही क्यों न करें । दृष्टान्तस्वरूप शरीरको ही लीजिये । शरीरमें भिन्न भिन्न कार्य्योंको करनेके लिये भिन्न भिन्न अंग बनाये गये हैं । हाथ काम करनेके लिये, नाक सूँघने के लिये, मुंह खानेके लिये, कान सुननेके लिये और आंख देखनेके लिये बनायी गयी है । सभी इन्द्रियां अपना अपना काम पृथक् तौरपर करती हैं, परन्तु उनमें पारस्परिक संघर्ष नहीं है । आंख हाथको सहायता पहुंचाती है और मट्टी ढेला आदिके आंखमें पड़नेकी संभावना होते ही हाथ स्वयंही आंखके सामने आ जाता है और उसको बचाता है । सभी इन्द्रियां एक दूसरीकी सहायक हैं और शरीरके

हित तथा आनन्दको ही बढ़ाती हैं। निस्सन्देह इन्द्रियों- में पार्थक्य है और सबकी सब अपने अपने कामोंको करती हैं। परन्तु इसके साथ ही साथ उनमें शक्तिसंविभाग सि- द्धान्त काम नहीं करता है। भूखके समय सभी इन्द्रियां एक दूसरीको सहायता पहुंचाती हैं। भोजन अच्छा है या बुरा है, उसमें कीट पतंग या मिट्टी नहीं है इसको आंख देखती है। वह सड़ा तो नहीं है उसको नाक पहचानती है, हाथ भोजन- को उठाकर मुंहतक पहुंचाता है और मुंह चबा कर उसको पेटके योग्य बना देता है। शरीरके सदृश ही राष्ट्रशरीरीकी दशा है। राष्ट्रशरीरीका हित किसमें है और वह किस प्रकार किया जा सकता है, इसीको सामने रखकर राज्य- के भिन्न भिन्न अंगोंका निर्माण किया गया है। राष्ट्रशरीरी- की कल्पना मनुष्यकृत है। यही कारण है कि उसके अंगोंमें वह पूर्णता नहीं है जो कि शरीरमें पायी जाती है। उचित तो यह है कि बिना किसी प्रकारकी पारस्परिक रगड़के राज्यके संपूर्ण विभाग एक दूसरेको सहायता पहुंचाते हुए राष्ट्रके हित तथा आनन्दको बढ़ाते। परन्तु यही बात नहीं है। राष्ट्रीय अंगोंमें कुछ न कुछ संघर्ष सभी राष्ट्रोंमें विद्यमान है। राष्ट्रीय इच्छाको काममें लानेके लिये वह तत्परता नहीं है जो कि होनी चाहिये। यह होने हुए भी सिद्धान्त दूषित नहीं होता। विभागोंमें पारस्परिक सहानुभूति होनी चाहिये इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। राष्ट्रकी इच्छाको पूर्ण कर- नेमें सभी अंगोंको तत्पर रहना चाहिये। शरीरमें जिस प्र- कार सभी इन्द्रियां मनके अधीन हैं उसी प्रकार राजकीय अंगोंको अपने मुखियाके अधीन हो कर काम करना चाहिये।

कुछ राष्ट्रोंमें सचिवतन्त्र शासनपद्धतिने बड़ी सफलता-से काम किया। अमरीकामें शासक विभागको शक्ति बहुत ही अधिक है। इस शक्तिको नियन्त्रित करनेके लिये वहां भिन्न भिन्न राजनीतिक दल पैदा होगये जिनका संगठन अपूर्व है और जिनकी शक्ति बहुत ही अधिक है।

एकतन्त्र-शासनपद्धतिसे शासित राष्ट्रोंकी मानसिक शक्ति नियामक सभाय हैं। वेही राष्ट्रके प्रत्येक अंगका नियन्त्रण करती हैं और उनको यथेच्छ चलाती हैं। साथही उन्होंने भिन्न भिन्न कार्यके करनेमें प्रत्येक अंगको स्वतन्त्रता भी दे रखी है। यदि यह न हो तो राज्यका कार्य उत्तम विधिपर न चल सके। नियामकसभाओंका अत्यधिक हस्तक्षेप शासनको शिथिल करदे और राष्ट्रकी एकता चिरकाल तक स्थिर न रह सके। निर्णायक विभागके साथ तो स्वतन्त्रताका घनिष्ट सम्बन्ध है। उसको अपने कार्यक्षेत्रमें किसीकी भी बाधा न होनी चाहिये। जब तक निष्पक्ष हो कर वह अपने कामको करता रहे तब तक राज्यके किसी भी अंगका उसको भय न हो।

६८७—शक्तिविभाग.

राष्ट्रकी इच्छा तथा मतका प्रचार करना राज्यका कर्त्तव्य है। परन्तु उसको इसके साथही साथ यह भी निश्चित करना पड़ता है कि कौनसा कार्य संपूर्ण राष्ट्रके साथ सम्बद्ध है और कोनसा कार्य स्थानीय या विशेष श्रेणीके लोगोंके साथ ही संबन्ध रखता है। इसी भेदको सामने रखकर लगभग अर्वाचीन सभी राष्ट्रोंमें मुख्य तथा स्थानीयके भेदसे

कार्योंका भेद किया गया है । एकात्मकराज्यों (unitary states) में मुख्य या जातीय राज्य ही स्थानीय कार्य्यों तथा स्थानीय कार्य्यकर्त्ताओंको नियत करता है । उनको पदच्युत करना तथा उनके कार्य्यों तथा अधिकारोंमे परिवर्त्तन करना भी प्रायः उसीके हाथमें होता है । संघीय राज्योंमें प्रायः शासनपद्धतिकी धाराएं भी भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके अधिकार, कार्य तथा शक्तियोंका निश्चय करती हैं । मुख्य राज्य तथा राष्ट्रीय राज्य दोनो ही एक दूसरेके अधिकारों तथा शक्तियोंमें न तो परिवर्त्तन ही कर सकते हैं और न उनका नाश ही कर सकते हैं । संघीय राज्यके प्रत्येक राष्ट्रमें स्थानीय तथा मुख्यके भेदसे कार्य्योंका भेद किया जाता है, राष्ट्रकी नियामकसभायें ही इस कामको करती हैं अतः उनमें अदल-बदल करना भी उन्हीके हाथमें रहता है ।

भेदके सदृश ही अर्वाचीन राष्ट्रोंके कार्य्योंमें बहुत कुछ समानता है । सभी राष्ट्रोंमें राष्ट्रोंके पारस्परिक सम्बन्ध तथा साधारण राजनीतिका निर्णय मुख्यराज्यके हाथमें ही होता है । सन्धि, विग्रह, कोश तथा गृहप्रबन्धके मामलेमें सभी मुख्यराज्योंकी समता है । वैयक्तिक प्रश्नों तथा विवादोंका निर्णय प्रायः स्थानीय राज्यके ही पास रहता है । सड़क, पानी, रोशनी तथा गमनागमनके साधनोंका प्रबन्ध भी प्रायः स्थानीय राज्य ही करते हैं ।

स्थानीय तथा मुख्यराज्यके संबन्धमें बहुत सी समस्यायें हैं जो कि राजनीतिशास्त्रमें बहुत ही महत्वपूर्ण गिनी जाती हैं । स्थानीय स्वराज्य (local self-government) के सिद्धान्तका प्रचार दिनपर दिन बढ़ रहा है । इसके अनुसार

स्थानीय राज्योंके ही हाथमें साधारण प्रबन्ध होना चाहिये, और उनको अपने अधिकार क्षेत्रमें काम करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। स्थानीय राज्योंमे पारस्परिक झगड़ा न हो। और राष्ट्रकी एकता बनी रहे इस उद्देश्यसे मुख्य राज्यका उनपर किसी न किसी हदतक नियन्त्रण रहता है। इस बातको सफलतासे करनेके लिये दो शैलियों का अवलंबन किया जाता है जो कि इस प्रकार हैं।

(क) मुख्यराज्य नियम निर्माणका काम स्वयं करे और शासन तथा प्रबंधका काम स्थानीय राज्यके हाथमें दे दे।

(ख) मुख्य राज्य साधारण साधारण नियमों के निर्माण का काम स्थानीय राज्यका सुपुर्द कर दे और स्वयं शासन तथा प्रबंधका निरीक्षण करे।

इनमेंसे पहली शैलीपर इंग्लैण्ड तथा अमरीकामें काम होता है। मुख्यराज्य छोटे छोटे नियमोंतकको बनाता है। इससे स्थानीय आवश्यकताओं तथा जरूरतोंकी पूर्ति उचित सीमातक नहीं होती। इसके विपरीत स्थानीय शासक स्वच्छंदतौरपर शासन करते हैं। मुख्यराज्यका उनपर पूरे तौरपर नियंत्रण नहीं रहता। इसका दोष यह है कि स्थानीय राज्य अप्रिय राज्यनियमोंका प्रयोग पूरे तौरपर नहीं करते हैं। लाचार हो कर मुख्यराज्यको उनके कार्योंमें हस्तक्षेप करना पड़ता है और सदा ही मुख्यराज्य तथा स्थानीय राज्यका विवाद बना रहता है।

फ्रान्स तथा जर्मनीमे दूसरी शैलीपर ही काम होता है। वहां छोटे छोटे आवश्यकीय नियमोंका निर्माण स्थानीय राज्यके पास है। शासन तथा प्रबन्धके मामलेमें वह मुख्य-

राज्यके अधीन हैं। मुख्यराज्य जिधर चाहे उधर स्थानीय शासकोंको चला सकता है और उनपर पूर्ण तौरपर अपना नियंत्रण रखता है। इसका गुण यह है कि मुख्यराज्य तथा स्थानीय राज्यमें हर रोज झगड़ा नहीं होता और शासन-का काम स्थिरतौरपर चलता रहता है।

यदि दोनों शैलीपर गंभीर तौरपर विचार किया जाय तो उनके दोष तथा गुण प्रत्यक्ष हो जाते हैं। उनके दोष तो ये हैं कि यदि प्रथम शैलीपर काम किया जाय तो शासन शिथिल हो जाता है। राष्ट्रीय नियमोंका पालन पूरे तौरपर नहीं होता है और राष्ट्रीय स्वार्थों तथा हितोंको जनता उपेक्षाकी दृष्टिसे देखने लगती है। इसके विपरीत यदि द्वितीय शैलीपर काम किया जाय तो स्थानीय राज्यका अधिकार कुछ भी नहीं रहता। स्थानीय स्वार्थों तथा हितोंकी उपेक्षा की जाती है। यही कारण है कि आज कल सभी राष्ट्र मध्य-का मार्ग ले रहे हैं। इंग्लैण्ड तथा अमरीका अपने शासनको सुदृढ़ बना रहे हैं। स्थानीय राज्योंको नियम-निर्माणके संबंधमें अधिक अधिक अधिकार देते जाते हैं और स्थानीय प्रबंध तथा शासनपर अपना निरीक्षण बढ़ा रहे हैं। अमरीका-में विशेष विशेष स्थानोंके लिये विशेष विशेष नियमों-का बनाना काम किया जा रहा है। जनताका इस ओर विशेष तौरपर ध्यान है कि स्थानीय राज्योंको राष्ट्रीय नियमोंके नियंत्रणसे कुछ कुछ स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। अमरीकन नगरोंमें अपने अपने नागरिक स्वार्थोंको सामने रखकर नये नये दल बन रहे हैं। इससे मुख्यराज्यके लिये बने हुए राजनीतिक दलोंका प्रभुत्व घट रहा है और नागरिक

प्रबन्ध शासनमें तथा नियम निर्माणमें कुछ कुछ स्वतन्त्रता भारही है। यूरोपमें मुख्यराज्यके शासनको ढीला करनेकी ओर जनताका झुकाव है। यही कारण है कि स्थानीय संघों-का इस ओर विशेष ध्यान है कि यह अपने शासकोंको स्वयं ही चुनें। इस समय यूरोपकी स्थिति ऐसी है कि स्थानीय संघोंके यत्नमें मुख्यराज्य बहुत बाधा न डालेंगे और जह तक हो सकेगा उनकी इच्छाओंका पूरा करेंगे।

साधारणतया जिन राष्ट्रोंमें स्थानीय राज्यको शासन तथा प्रबंधका नियन्त्रण मुख्यराज्यके हाथमें है वहां शासन ब्यूरोक्रेटिक या स्वेच्छापूर्ण होता है। अर्थात् वहां शासकों-के स्थिर राज्य-सेवक होनेसे जनताके स्वार्थों तथा हितों की रक्षा पूर्णतौरपर नहीं होती है। ऐसे देशोंमें राज्यपद-का लोभ लोगोंमें प्रबल हो जाता है। राज्यसेवक अपने ऊंचे अधिकारीको ही अपना इष्टदेव मानते हैं और तनखाह बढ़ने तथा पदोन्नतिके पाछे जनताकी इच्छाओंकी तनिकसी भी परवाह नहीं करते। इसका सबसे भयंकररूप यदि किसी देशमें देखा जा सकता है तो वह भारतवर्षमें है। भारत-वर्षमें राज्यपदोंके लालचने न्यायाधीशों तकको अन्यायी बना दिया है। यदि यह कह दिया जाय कि भारतमें न्याय नाम-मात्रको होता है और जो कुछ है वह ऊपरके राज्याधि-कारीकी प्रसन्नता तथा खुशामदसे है तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। पुराने जमानेमें यही हालत साम्रा-ज्यकालमें रोमकी; अठारहवीं सदीमें प्रशियाकी—और नैपो-लियनके युगमें फ्रान्सकी थी। लड़ाईसे पहले रूस भी राज-कीय अन्यायों तथा अत्याचारोंसे परेशान था। परन्तु राज्यक्रान्तिसे रूसका भी उद्धार हो गया। इस समय एक मात्र भारत ही दुरवस्थामें है।

स्थानीय राज्यको जहां शासनमें स्वतन्त्रता है वहां जनताकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है । जनताही स्थानीय राज्य-कर्मचारियोंको नियुक्त करती है। प्रायः वे विना तनख्वाह लिये ही राज्यकार्य करते हैं और समय खतम होनेपर पुनः जनतामें आ मिलते हैं। इससे देश में राज्यसेवकोंकी एक श्रेणी नहीं बन जाती और स्थिर शासकोंको भी जनताके मनका आदर करना पड़ता है। इस शैलीमें जो कुछ नुकसान है वह यही है कि शासनमें मितव्ययिता तथा पूर्णता नहीं आती। जो कुछ इसका गुण है वह यही है कि राष्ट्रीय कार्य्योंमें सभी जनता रुचि रखने लगती है और किसी हद्द तक उनको स्वयं भी करनेमें समर्थ हो जाती है।

शासकतन्त्र (Bureaucratic administration) राज्य पद्धति तथा जनतन्त्र राज्यपद्धति (Popular administration) का आजकल एक दूसरेकी ओर झुकाव है। अर्वाचीन राजनीतिज्ञ राष्ट्रके प्रबन्धको सक्षम तथा उत्तरदायी बनाने के लिये दोनों ही पद्धतियोंको एक साथ काममें लाना चाहते हैं। विवेक पूर्ण समझदार मनुष्य राज्यनियम बनावें और स्थिर राज्यसेवक उनका प्रयोग करें, इसी ओर अर्वाचीन राष्ट्रोंकी शासन पद्धतियोंका झुकाव है।

दूसरा परिच्छेद ।

नियामक विभाग ।

§ ८८—नियामक विभागका कार्य तथा स्वरूप

नियामक, निर्णायक तथा शासक शक्तिका परस्पर क्या सम्बन्ध है, इसपर पूर्व प्रकरणमें प्रकाश डाला जा चुका है। नियामकशक्तिका उपयोग तथा नियम-निर्माणका कार्य सभ्य जातियोंमें किस विधिपर किया जाता है, इस परिच्छेदमें इसीपर कुछ प्रकाश डाला जायगा।

राज्यकी भिन्न भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाताके लिए भिन्न भिन्न गुणोंका होना अति आवश्यक है। शासकविभागका विचारकी अपेक्षा कर्मके साथ और निर्णायक विभागका नियमज्ञान तथा उसके प्रयोगके साथ विशेष सम्बन्ध है। इसी प्रकार नियामकविभाग विचार तथा दूरदर्शिताकी विशेष अपेक्षा करता है। विचार तथा दूरदर्शिता सम्बन्धी कार्योंमें भिन्न भिन्न स्वार्थ, उद्देश्य, विचार तथा मतोंके व्यक्तियोंकी संख्या जितनी अधिक हो उतना ही उत्तम है। यह होते हुए भी, नियामकविभागके अधिकसे अधिक कितने सभ्य हों, इसका निर्णय दुःसाध्य है, क्योंकि यह भिन्न भिन्न देशोंकी भौगोलिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अवस्थापर ही निर्भर रहता है। संवत् १८४६ (सन् १७८९) की फरांसीसी प्रतिनिधि सभामें १२०० सभ्य थे। इससे

अधिक सभ्य वर्तमानकालमें किसी भी देशकी प्रतिनिधि सभामें नहीं हुए हैं। विषयको स्पष्ट करनेके लिये संवत् १८७० (सन् १८१३) में भिन्न भिन्न देशोंमें प्रतिनिधि सभाके सभ्य कितने थे, इसकी सूची दे दी जाती है।

प्रतिनिधि सभा		सभ्योंकी संख्या
अमेरिकन प्रतिनिधि सभा		४३५
आंग्ल	,,	६७०
फरांसीसी	,,	५६७
जर्मन	,,	३९७
इटैलियन	,,	५०८
स्पैनिश कांग्रेस	,,	४०६
न्यूहैम्पशायर् (राष्ट्रीय)		४०५
मेसाचसेट्स	,,	२४०
वर्जीनिया	,,	१००
डेलावेयर्	,,	३६

उपरिलिखित सूचीसे स्पष्ट है कि नियामक सभामें सभ्योंकी संख्या प्रायः सभी देशोंमें अधिक है, इतनी बहुत्संख्यामें नियम-निर्माणका कार्य सर्वथा कठिन है। यही कारण है कि सभी देशोंमें किसी न किसी नवीन विधिके द्वारा नियम-निर्माणका कार्य किया जाता है। संवत् १८४६ (सन् १७८६) की फ्रांसीसी प्रतिनिधि सभाने उस बहुत्संख्यामे ही नियम-निर्माणका कार्य करना चाहा परन्तु वह सर्वथा असफल-प्रयत्न सिद्ध हुई। गवर्नर मारिसने उस सभाके विषयमें लिखा है कि—"सभाके सभ्य किसी विषयपर कुछ भी विवाद नहीं करते हैं। उनका आधा समय शोरगुलमें ही

नष्ट हो जाता है।" इसी प्रकारके अनुभवोंसे प्रेरित होकर संसारकी सभ्य जातियोंने नियम-निर्माणमें नवीन नवीन विधियोंका अवलम्बन किया है। विषयको स्पष्ट करनेके लिये कुछ विधियोंका दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रथम प्रणाली:—नियामक सभाके बहुसंख्या सम्बन्धी दूषणको रोकनेके लिये बहुतसे सभ्य देशोंने प्रस्तावका तीन बार नियामक सभामें पढ़ा जाना आवश्यक ठहराया है। यह इसलिये कि कोई भी व्यक्ति नियामक सभाके सभ्योंको अपने वशमें करके सहसा ही प्रस्तावको राजनियमका रूप न दिलवा दे। इंग्लैण्डमें प्रतिनिधि सभाका सभ्य प्रस्ताव पेश करनेसे पूर्व प्रवक्तासे यह प्रार्थना करता है कि मैं एक प्रस्ताव पेश करता हूं। इस प्रार्थनाको सुनते ही प्रतिनिधि सभाके सभ्य शान्तचित्त हो जाते हैं। प्रवक्ताकी आज्ञापर प्रस्ताव टेबलपर लाया जाता है और लोकसभाके क्लार्कको दे दिया जाता है। क्लार्क अति उच्चस्वरसे सभामें प्रस्तावका शीर्षक पढ़ता है। इसके अनन्तर संपूर्ण प्रस्ताव पढ़ा जाता है और उसके द्वितीय बार पुनः पढ़े जानेका समय निश्चित कर दिया जाता है। द्वितीय बार सभामें प्रस्ताव पास हो जानेपर विचारार्थ एक उपसमितिमें भेज दिया जाता है। प्रस्तावके प्रत्येक अक्षरपर उपसमिति गम्भीरतासे विचार तथा संशोधन करती है। उपसमितिसे गुजरकर सभामें तृतीयबार प्रस्ताव पेश होता है। प्रतिनिधि सभासे पास होकरके प्रस्ताव लार्ड सभामें भेज दिया जाता है। यदि लार्ड सभा उस प्रस्तावमें कुछ भी संशोधन या परिवर्तन करे तो उसपर प्रतिनिधि सभा पुनः विचार

करती है। इन सब क्रमोंमेंसे सफलता पूर्वक गुजर आनेपर ही कोई प्रस्ताव राज्यनियमका रूप धारण कर सकता है।

द्वितीय प्रणाली —नियमनिर्माणकी द्वितीय प्रणाली यह है कि नियमनिर्माणका कार्य उपसमितियोंके द्वारा किया जाय। इससे कार्यका सुगमतासे ही उत्तमविधिपर हो जाना स्वाभाविक ही है। अमेरिकन प्रतिनिधि सभामें इसी विधिपर संपूर्ण कार्य सम्पादित होता है। ६६ वीं कांग्रेसमें प्रतिनिधि सभाकी ६० उपसमितियां थीं जिनमेंसे आयव्यय, मुद्रा, व्यापार, मार्ग आदि सम्बन्धिनी उपसमितियां इतिहासमें अति प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उपसमितियोंको प्रस्ताव-निषेधका कुछ भी अधिकार नहीं प्राप्त है, तथापि वे विरोधी सूचना, परिवर्त्तन, नवीन प्रस्ताव तथा उदासीनताके द्वारा प्रस्तावके वास्तविक रूपको सर्वथा नष्ट कर सकते हैं और नष्ट करती भी रहीं हैं। इसीसे यह अनुमान किया जा सकता है कि अमेरिकन प्रतिनिधि सभाके हाथमें नियम-निर्माणका कार्य किस सीमातक है।

फ्रांसमें अमेरिकासे भिन्न विधिपर काम किया जाता है। वहां प्रतिनिधि सभाके सभ्य गालिका पात विधिसे ११ भागोंमें विभक्तकर दिये जाते हैं और इन्हींमेंसे प्रत्येक प्रस्तावके विचारके लिये एक नवीन उपसमिति बनायी जाती है। इस विधिका असन्तोषप्रद होना इसीसे जाना जा सकता है कि बहुत बार उपसमितिके सभ्य वही लोग बन जाते हैं जो कि उस प्रस्तावके विरोधी होते हैं। नियामक सभाओंमें "विवादको रोकनेकी क्या विधि है" इसपर भी कुछ शब्द लिख देना आवश्यक ही प्रतीत होता है। अमेरिकन राष्ट्र सभामें विवाद रोका नहीं जाता है, क्योंकि

ऐसा करनेमें राष्ट्रसभाके सभ्य अपनी स्वतन्त्रताका घात तथा अपना अपमान समझते हैं। परन्तु अमेरिकन प्रतिनिधि सभामें यह बात नहीं है। वहांपर सभ्योंकी बहुसम्मतिसे विवाद रोका जा सकता है। कुछ समय पूर्व आंग्ल प्रतिनिधिसभामें ऐसा कोई नियम न था। महाशय ग्लेडस्टनके द्वितीय मन्त्रित्वकाल [संवत् १६३७–४२ (सन १८८०-८५)] में आयरिशसभ्योंने समयके विरुद्ध विवाद करते हुए पार्लमेंटके संपूर्ण कार्योंको रोक दिया। इसीका परिणाम यह हुआ कि इंग्लण्डमें भी विवाद बन्द करनेके प्रस्तावपर प्रवक्ताको यह अधिकार है कि चाहें वह विवाद बन्द कर दे और चाहे तो विवाद न बन्द करे। यही नहीं, कुछ प्रस्तावोंकी धाराओंपर विवाद करना सर्वथा निषिद्ध है और कईपर विवादका समय निश्चित है।

नियम-निर्माणके काममें विवेक, गंभीर विचार तथा दूरदर्शिताकी जरूरत है। जनताके प्रतिनिधियोंमें इन संपूर्ण गुणोंका होना आवश्यक नहीं है। वे भिन्न भिन्न श्रेणीके स्वार्थों तथा हितोंके प्रतिनिधि हैं। निर्वाचनके समयमें इन्हीं बातोंका आधार रखा जाता है। इस दशामें नियम-निर्माणमें बहुत भूल हो सकती हैं। इनसे बचनेके लिये सभी राष्ट्रोंने सभा-द्वयविधिका अवलंबन किया है। कोई भी प्रस्ताव तबतक राज्य नियम नहीं बन सकता जबतक कि राष्ट्रकी दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत न हो जाय। यह नियम प्रायः सभी राष्ट्रोंमें प्रचलित है। अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनीमें सभाद्वयविधिके अनुसार ही काम किया जाता है। एक मात्र यूनान ही इस नियमका अपवाद है। वहां एक

सभा द्वारा ही स्वीकृत प्रस्ताव राज्यनियमका रूप धारण कर लेते हैं। मैक्सिको तथा दक्षिणी अमरीकाके राष्ट्रोंने अपनी शासनपद्धति अमरीकन शासनपद्धतिके आधारपर बनायी है अतः वहां दो सभाओंके द्वारा नियमनिर्माण स्वाभाविक ही है। अमरीकाके छोटे छोटे राष्ट्रोंमें भी प्रायः दो सभाओंके द्वारा ही नियम बनते हैं। अमेरिकन राष्ट्रसंघकी अड़तालीस रियासतोंमें सीनेट तथा प्रतिनिधि सभायें हैं। जापान तथा आस्ट्रेलियाने भी इस मामलेमें यूरोपका अनुकरण किया है।

सभाद्वयविधिका विकास सबसे पहले इंग्लैण्डमें हुआ। इसको विवेकपूर्ण न समझकर आकस्मिक ही समझना चाहिये। पादरियों तथा कुलीनोंकी सभामें धीरे धीरे जिलों तथा परगनोंके सभ्य सम्मिलित हुए। परन्तु यह सम्मिलन सफल न हुआ, क्योंकि ऊंचे घरानेके लोग साधारण प्रजाके साथ एक साथ बैठना पसन्द नहीं करते थे। यही कारण है कि जनताके प्रतिनिधियोंकी सभा पृथक हो गयी। व्यापार तथा व्यवसायके बढ़नेके साथ ही साथ इंग्लैण्डमें मध्यश्रेणी-के लोगोंका महत्त्व बढ़ गया। राजाने भी कुलीनोंकी सभाके स्थानपर लोकसभाका ही सहारा लिया। उसको जब रुपये पैसेकी जरूरत होती थी तब वह लोकसभासे ही प्राप्त करता था। इससे धीरे धीरे लोकसभा शक्तिशालिनी होगयी। सत्रहवीं तथा अठारहवीं सदीमें राष्ट्रकी संपूर्ण शक्ति लार्ड सभाके स्थानपर लोकसभामें ही केन्द्रित हो गयी।

यूरोपमें समानता स्वतन्त्रता तथा भ्रातृ भावके विचारोंका प्रचार फ्रान्ससे शुरू हुआ। कुलीनोंके प्रति घृणाने फरांसी-सियोंको इसपर बाध्य किया कि वह एकमात्र लोकसभाको

नियामक सभाका रूप दें। अमरीकामें भी यही घटना घटित हुई। यही कारण है कि कान्फडरेशनके दिनोंमें अमरीकाने और फ्रांसने (सन् १७६१) कान्स्टिटयूशनल एसंब्लीके समयमें और इसके बाद (सन् १८४८) द्वितीय रिपब्लिकके समयमें एक सभाके द्वारा ही नियमनिर्माणका प्रयत्न किया परन्तु सफलता न मिली। संवत् १६०५ (सन १८४८) की जर्मन पार्लमेन्टने भी एक सभाके द्वारा ही नियमनिर्माणका काम सोचा परन्तु अन्तमें उसको निराश होना पड़ा। अमरीकाकी छोटी छोटी रियासतोंने भी इसका परीक्षण किया है। आजकल यूनान तथा सेन्ट्रल अमरीकन रिपब्लिक ही बच गये हैं। इनमें अबतक एक सभाके द्वारा ही नियमनिर्माणकी पद्धति प्रचलित है।

भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें सभाद्वयविधि प्रचारके भिन्न भिन्न कारण हैं। अमरीकामें संघराज्य तथा जातीय स्वार्थने ही राष्ट्रको इस विधिका अवलंबन करनेके लिये बाधित किया। यूरोपमें जनता तथा कुलीनोंका झगड़ा था और कुलीन जनताके साथ बैठनेमें अपनी हतक समझते थे। यही कारण है कि वहां कुलीनसभा तथा जनसभा पृथक् पृथक् बनगयी। फ्रान्स, दक्खिनी अमरीकाके राष्ट्र तथा जापानने सभाद्वयविधिको लाभप्रद समझकर अपने अपने देशोंमें प्रचलित किया।

प्रायः सभी राजनीतिज्ञ एक सभाके द्वारा नियमनिर्माणको बुरा समझते हैं। महाशय लैकी जैसे प्रसिद्ध विद्वान्ने यह लिख दिया कि "मनुष्य मात्रमें जितने प्रकारके राज्य प्रचलित हैं उनमें सबसे बुरा राज्य वह है कि जिसमें नियमनिर्माणका काम एक सभाके द्वारा होता है।" निस्सन्देह लैकीका विचार अत्युक्तिपूर्ण है। परन्तु उस अत्युक्तिमें भी सचाई

है। यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि बहुतसे राष्ट्रोंने एक सभाके द्वारा नियम बनानेका यत्न किया परन्तु किसीको भी सफलता न मिली। नियम-निर्माणमें सबसे अधिक जरूरी बात यह है कि जल्दबाजी न हो। एक सभाके द्वारा यही बात नहीं रुकती। सबसे बडी बात तो यह है कि एक सभाके द्वारा नियम-निर्माण होनेपर भिन्न भिन्न व्यक्ति स्वेच्छाचारी बन जाते हैं। जो अच्छा बोल सकता हो, जिसकी वाक्शक्ति जनताको अपने वशमें कर सकती हो वह अपनी इच्छाके अनुसार जिस प्रस्तावको चाहे कानून बना दे। यूनानमें डैमोगागकी उत्पत्तिका एक कारण यह भी था। दो सभाओंके हो जानेसे यह बात नहीं हो सकती। जो व्यक्ति एक सभामें प्रभावशाली है उसका दूसरी सभामें कुछ भी प्रभाव नहीं होता। आमतौरपर यह देखनेमें आया है कि दूसरी सभाके सभ्य उसके विरुद्ध रहते है। इस हालतमें किसी भी व्यक्तिका स्वेच्छाचारी बनना असंभव हो जाता है।

एक सभाके द्वारा नियम बनानेका यह भी दोष है कि जनताके मतमें तथा नियामक सभाके मतमें बहुत भेद पड़ जाता है। प्रायः नियामक सभाके सभ्य कुछ ही वर्षोंके लिये चुने जाते हैं। तीन साल पहले राष्ट्रकी जो दशा थी और वह भिन्न भिन्न राजनीतिक प्रश्नोंपर जिस दृष्टिसे विचार करता था, हो सकता है उसके बाद उसकी वह दशा न रहे। नियामकसभा तो तीन सालके लिये चुनी जाकर भंग नहीं हो सकती। इससे जनताके विरुद्ध नियमोंका पास हो जाना स्वाभाविक ही है। देखनेमें तो

एक सभा द्वारा नियम-निर्माण करनेवाला राष्ट्र प्रतिनिधितंत्र या लोकतन्त्र है परन्तु वस्तुतः वह स्वेच्छातन्त्र ही होता है

फरासीसी राज्यक्रान्तिके समयमें यूरोपीय राजनीतिज्ञोंका यह मत था कि दो सभाओंके होनेसे जनताके मतका प्रभुत्व कम हो जाता है। इस दोषपूर्ण विचारका मुख्य कारण यह था कि इंग्लेण्डमें कुलीनसभा या लार्डसभाके पास बहुत अधिक शक्ति थी। लोकसभाके द्वारा पास किये गये नियमोंको रद्द करते हुए देखकर राजनीतिज्ञोंने उनको लोकतंत्र शासनका बाधक समझ लिया। यही कारण था कि संवत् १८४८ (सन १७९१) के जनतंत्र शासनके पक्षपाती फरासीसी राजनीतिज्ञोंने एक सभाके द्वारा ही काम करनेका यत्न किया, परन्तु उनको सफलता न मिली। संक्षेपसे सभाद्वयविधिके निम्नलिखित लाभ गिनाये जा सकते हैं:--

(१) इसके कारण नियम-निर्माण विवेक तथा सावधानीसे होता है। सब प्रकारके ऊंच नीच तथा भिन्न भिन्न श्रेणीके हित तथा अहितकी पूरे तौरपर पर्यालोचना हो जानेके बाद ही कोई प्रस्ताव राज्यनियमका रूप धारण करता है। एक सभाके द्वारा यह बात नहीं हो सकती। उससे नियम जल्दी बनते हैं। द्वेष, लोभ तथा स्वार्थका प्रभाव उनपर जल्दीसे पड़ता है। उनमें दूरदर्शिता तथा सब श्रेणीके हितोंका विचार नहीं रहता। यदि एक ही सभामें अल्पपक्ष तथा बहुपक्ष हो तो कुछ घंटोंके बाद ही प्रस्ताव राज्यनियमका रूप धारण कर लेता है। इससे अल्पपक्षके हितोंका कुछ भी ख्याल नहीं किया जा सकता। परन्तु दो सभाओंके द्वारा काम होनेपर विशेष प्रकारके स्वार्थसे पूर्ण लोग किसी एक

लार्डसभा या कुलीन सभाके रूपमें एकत्र किये जायँ और उनका भी नियम-निर्माणमें भाग हो तो राज्यक्रान्तिकारक प्रस्ताव सुगमतासे ही पास नहीं किये जा सकते। एक श्रेणीके लोग दूसरी श्रेणीके अधिकारोंका अपहरण सुगमतासे ही नहीं कर सकते। ये लाभ इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि सभाद्वयविधिकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है।

(२) सभाद्वय विधिके द्वारा जनताकी सम्मतिका बोध सुगमतासे ही हो सकता है। एक सभाके सभ्य कुछ सालोंके लिये चुने जाकर स्वेच्छाचारी बन सकते हैं और जनताके मतका निरादर कर सकते हैं। परन्तु यदि दो सभाओंके द्वारा नियम बनाये जायँ और उनके सभ्य भिन्न भिन्न समयके लिये और भिन्न भिन्न समयमें चुने जायँ तो यह दोष मिट जाता है। नये सभ्य जनताके मतका निरादर करनेसे नियामक सभाओंको रोकेंगे और इस प्रकार जन तन्त्र शासनपद्धतिको स्वेच्छाचारकी ओर न जाने देंगे।

(३) नियामकसभाओंके दो भागोंमें विभक्त होनेसे शासक विभागका पार्थक्य सुरक्षित रह सकता है। यदि एक सभाके द्वारा ही संपूर्ण काम हो तो नियामकसभा शासकसभाको अपनी इच्छाके अनुसार चलानेका यत्न करेगी और इस प्रकार शासकविभागको नियामकविभागके अधीन बना देगी। स्वाभाविक ही है कि इससे शासनका क्रम बिगड़ जाय। शासकविभागके पार्थक्यके जो लाभ हैं वे सबके सब मटियामेट हो जायँ और राष्ट्रका शासन शिथिल हो जाय।

यदि गंभीर तौरपर विचार किया जाय तो मालूम पड़े कि सभाद्वयविधि स्थिर नहीं है। परिवर्तनशील समाजका

ही यह एक अंग है। समाजमें स्वार्थकी मात्रा अधिक है। भिन्न भिन्न श्रेणीके लोगोंका भिन्न भिन्न स्वार्थ है। उचित तो यह है कि जनता समाज तथा राष्ट्रके हित तथा स्वार्थके सम्मुख अपने हित तथा स्वार्थको भुला दे। आजकल लड़ाईके दिनोंमें प्रायः ऐसा होता है। परन्तु शान्तिकालमें राज्य-संचालनमें श्रेणी-युद्धोंका प्रभाव बहुत ही अधिक है। क्या ही अच्छा होता यदि जनताके सम्पूर्ण प्रतिनिधि एक ही सभामें बैठकर भिन्न भिन्न प्रस्तावोंके हानि लाभकी पर्यालोचना करते और यदि उचित समझते तो उनको राज्य-नियमका रूप दे देते। अब क्या होता है? पहले एक सभामें प्रस्ताव उपस्थित होता है और वहांसे पास होकर वह दूसरी सभामें भेजा जाता है। बहुत बार उस प्रस्तावके नाक कान काटे जाते हैं और इस प्रकार वह विकृत रूपमें पास किया जाता है। परन्तु इसके बिना काम भी नहीं चल सकता, क्योंकि जनतामें लोभ, मोह, द्वेष, ईर्ष्या तथा स्वार्थके भाव बहुत ही अधिक हैं। इनसे जहांतक हो सके समाजको बचाना चाहिये। यही कारण है कि कुछ नकलीतरीकोंसे बचावका प्रबन्ध किया जाता है। भिन्न भिन्न स्वार्थके लोग दो भिन्न भिन्न सभाओंमें बैठा दिये जाते हैं और दोनों ही सभाओंको किसी हद्दतक एक दूसरेके स्वार्थको कम करनेका अधिकार दे दिया जाता है। इसका परिणाम यह है कि समाज किसी न किसी तरीकेसे लुढ़कता पुढ़कता आगे बढ़ता चलता है। सभ्योंकी अज्ञानता तथा अविद्याके कारण नियम-निर्माणमें जो भूलें होती हैं उनको भी किसी न किसी हद्दतक दोनों सभायें कम करती हैं।

सारांश यह है कि मनुष्योंका जीवन अबतक इतना उच्च तथा पवित्र नहीं कि उनसे किसी भी बड़े कामके निर्दोष-पूर्ण सम्पन्न होनेकी आशा की जा सके। समाजको उनकी भूलोंसे जो नुकसान पहुच सकता है, सभाद्वयविधि उसीका एकमात्र उपाय है। *

§८९. प्रथम सभाका निर्माण।

अर्वाचीन राष्ट्रोंमें प्रथम सभा एक समान नहीं है। भिन्न भिन्न समाजके ऐतिहासिक विकासका ही वह परिणाम है। उसके सभ्योंका चुनाव प्रायः श्रेणीके स्वार्थों तथा भेदोंपर निर्भर है। संघ राज्योंमें प्रथम सभा उस घटनाका परिणाम है जिसपर भिन्न भिन्न राष्ट्रोंका समझौता तथा मेल हुआ था। द्वितीय सभाके सभ्य प्रत्यक्ष तौरपर जनताके प्रतिनिधि होते हैं। प्रथम सभामें यह बात कहां? कहीपर तो प्रथम सभाके सभ्य स्थानीय राज्यके प्रतिनिधि और कहीं कहीं पुराने कुलीनों तथा धनाढ्योंके प्रतिनिधि है।

प्रथम सभाके सभ्योंका आधार (१) निर्वाचन (२) वंश (३) नियुक्ति तथा तीनोंमेंसे किसी एक दोके सम्मिलनपर है। आज कल लोकतन्त्र राष्ट्रोंमें वंशका प्रभाव बहुत कम हैं और जहांपर हैं वहां भी धीरे धीरे घट रहा है। इस नियमका अपवाद यदि कोई राष्ट्र है तो वह जापान है। जापानने संवत् १९४६ (सन् १८८९) में लार्ड सभाकी रचना की और इंग्लैण्डके सदृश ही उसका आधार वंशपर रखा। इसका

* देखो ग्रमान लिखित 'दि साइन्स आव पालिटिक्स' पृ० ३४५

कदाचित् यह भी कारण हो कि जापानमें श्रेणी-भेद पूर्वसे ही विद्यमान था। वंशागतके तत्त्वके विरुद्ध फ्रान्समें बहुत पहले ही आन्दोलन हो चुका है। महाशय टामस पेमने संवत् १८४८ (सन् १७९१) में अपने "राइट्स आव मैन" नामक ग्रन्थमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा कि "यदि वंशागत न्यायाधीश गणितज्ञ तथा कवि नहीं हो सकत तो नियामक ही क्यों हों ?" उसका यह विचार सत्य है। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि शासनपद्धति बनाते समय समाजकी वास्तविक दशाको सामने रखना पड़ता है। माना कि वंशागतके आधारपर किसीको भी महत्त्व देना मूर्खता है और समाजके लिये हितकर नहीं है परन्तु जब तक उसका समाजमें अस्तित्व है और जायदाद तथा दायादके अधिकार समाजमे विद्यमान हैं तब तक शासन-पद्धतिकी नीवमें वंशागतके तत्त्वोंका कुछ भी स्थान न देना भयंकर भूल करना होगा। यदि जापानने वंशके अनुसार लार्ड सभा की रचनाकी तो बड़ो भारी दूरदर्शिताका काम किया। वह राज्यक्रान्ति तथा सामाजिक अशान्तिसे कुछ समयके लिये बच गया। इंग्लैण्डमें लार्डसभाकी रचनाका रहस्य भी बहुत कुछ ऐसा हो है। वहां धीरे धीरे इसकी शक्ति कम की गयी। साम्यवादी तथा समाज-संशोधक इसकी सत्ताको नष्ट करना चाहते हैं परन्तु साधा-रणतया जनता उनके बहुत विरुद्ध नहीं है। यही कारण है कि वह अब तक विद्यमान है, यद्यपि नाम मात्रको ही उसकी शक्ति है। विषयको स्पष्ट करनेके लिये भिन्न भिन्न देशोंकी प्रथम सभापर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

(क) अंग्लैण्ड:— संवत् १६७१ (सन् १६१४) में इंग्लैण्डकी लार्डसभाके ६३० सभ्य थे। इनमे दो आर्चविशप और चौबीस साधारण विशप थे। स्काटलैण्डके सोलह पीयर्स पार्लमेण्टके समय तक इसके सभ्य रहते हैं। इनका चुनाव स्काटलैंडके कुलीनोंकी ओरसे होता है। स्काटलैंडके सदृश ही आयर्लैण्डके कुलीन अपने अट्ठाइस पीयर्स लार्ड सभामें भेजते हैं। यह पूर्वमें ही लिखा जा चुका है कि लार्ड सभा विशेष विशेष समयमें न्यायालयका भी रूप धारण कर लेती है। यही कारण है कि सम्राट् अपनी ओरसे प्रसिद्ध प्रसिद्ध चार नियमज्ञाताओंको इसका सभ्य बनाता है। शेष सभ्य इंग्लैण्डके पीयर्स हैं जो कि वंशागत हैं। इंग्लिश प्रान्तसे जिन जिन व्यक्तियोको सम्राट् लार्डसभाका सभ्य बनाता है उनका पद वंशागत हो जाता है। इक्कीस सालकी उमरसे ऊपर उमरके लोग ही लार्डसभाके सभ्य बन सकते हैं। यूरोपके जिन राष्ट्रोंमें लार्डसभाका प्रचार है उनमे इंग्लैण्डके सदृश वंशागतका तत्त्व प्रधान नही। लड़ाईसे पहले प्रुशिया, आस्ट्रिया, हंग्री तथा स्पेनमें लार्डसभायें थीं। एक मात्र हंग्रीमें ही वंशागत पीयर्सकी लार्ड सभामें बहुसंख्या थी और किसी भी राष्ट्रमें नही। स्पेन तथा आस्ट्रियामें रोमन कैथोलिक पादरियोंको लार्डसभाका सभ्य चुननेका अधिकार है। प्रुशियाकी लार्डसभामें प्रायः ताल्लुकेदारोंके ही सभ्य थे। स्पेनकी सीनेटमें विश्वविद्यालयों, बड़े बड़े व्यापारियों तथा प्रान्तीय राष्ट्रोंके निर्वाचित व्यक्ति ही सभ्य हैं। फ्रांस, स्विटजरलैण्ड, नीदरलैण्ड, डेन्मार्क, बेलजियम, नार्वे तथा स्वीडनमें प्रथम सभाका एक सभ्य भी वंशके आधारपर नहीं

है। केवल इटलीमें राजकीय वंशके कुमारोंके लिये यह मर्य्यादा छोड़ी गयी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इंग्लैंड तथा एक दो और राष्ट्र अभी तक वंशके आधारपर प्रथम सभाके सभ्य चुन रहे हैं। संसारके अन्य सभ्य राष्ट्रोंमें अब यह बात नहीं रही।

(ख) फ्रांस -फ्रांसकी सीनेटके सभ्योंकी संख्या तीन सौ है। फ्रांसके भिन्न भिन्न प्रान्तोंसे ही इनका चुनाव होता है। आम तौरपर एकसे दस तक सभ्य प्रत्येक प्रान्त भेजता है। कौन प्रान्त कितने सभ्य भेजेगा यह उनकी आबादीपर निर्भर है। अल्जीरियाके तीन प्रान्तों तथा बेल्फोर्टके प्रदेश और उपनिवेशोंकी ओरसे भी सीनेटमें एक एक प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आता है। भिन्न भिन्न प्रान्तोंके शासक तथा नगरोंकी नगर समितियां ही फ्रांसमें सीनेटके सभ्योंका निर्वाचन करती हैं। संवत् १९३२ (सन् १८७५)में दोनों नियामक सभाओंने जीवन भरके लिये ७५ सभ्य अपनी ओरसे सीनेटमें भेजे। संवत् १९४१ (सन् १८८४) में एक नया प्रस्ताव पास किया गया कि इन ७५ सभ्योंमेंसे जिन जिनका स्थान रिक्त हो उसकी पूर्ति भिन्न भिन्न प्रान्त निर्वाचनके द्वारा करें। सीनेटके लिये निर्वाचित होनेके लिये ४० सालकी उमर तथा फ्रांसका नागरिक होना आवश्यक है। नौ सालके लिये ही सभ्योंका चुनाव होता है, और हर तीसरे साल एक तिहाई सभ्य नये सिरेसे चुने जाते हैं।

(ग) जर्मनी—लड़ाईसे पहले जर्मनीमें बन्दसराथके सभ्योंकी संख्या इकसठ थी। साम्राज्यके भिन्न भिन्न राष्ट्रोंकी ओरसे ही उनका चुनाव होता था। भिन्न भिन्न राष्ट्रोंको कितने कितने सभ्य भेजनेका अधिकार था उसका ब्योरा इस प्रकार है:—

राष्ट्र	सभ्योंकी संख्या
प्रशिया	१७
बवेरिया	६
सैक्सनी	४
वर्टम्वर्ग	४
हेस	३
वेडन	३
ब्रंजविक	२
मैक्लनवर्ग स्वेरिन्	२
तीन स्वतंत्र नगरोंके एक एक प्रतिनिधि	३
शेष छोटी छोटी रियासतोंके एक एक प्रतिनिधि	१७
	६२

संवत् १९२८ (सन् १८७१) में अलासेस लोरेनके प्रान्त फ्रांससे जर्मनीने छीन लिये थे। संवत् १९३६ (सन् १८७९) में इसको भी अपने प्रतिनिधि राष्ट्रसभामें भेजनेका अधिकार मिला। इस राष्ट्रके प्रतिनिधि जहां राष्ट्रसभाके वादविवादमें पूरी तौरपर भाग ले सकते थे वहा उन्हें अपनी संम्मति देनेका अधिकार प्राप्त न था।

बर्लिनमें राष्ट्रसभाके प्रतिनिधि राजदूतोंकी दृष्टिसे देखे जाते थे। उनको राजदूतोंके ही अधिकार भी प्राप्त थे। इसका मुख्य कारण यह था कि प्रायः राष्ट्रसभाके सभ्य अपने अपने राष्ट्रोंके उच्च अधिकारी ही होते थे। लड़ाईके अन्तमे जर्मनीमें राज्यक्रान्ति होगयी। राष्ट्रसभामें उससे जो परिवर्तन हुआ उसका पूर्णतौरपर ज्ञान हमको नहीं है अतः लड़ाईसे पहलेका ही हाल दिया गया।

(घ) अमरीका —संवत १९७१ (सन १९१४) मेंअमरीकाकी

सीनेटके सभ्योंकी संख्या ६६ थी। प्रत्येक राष्ट्रको दो दो सभ्य भेजनेका अधिकार था। अमरीकाकी शासन-पद्धतिकी धाराओंमें लिखा है कि प्रत्येक राष्ट्र सीनेटमें समान सभ्य भेजे। संवत् १६७० के सतरहवें संशोधनके द्वारा इसके सभ्य जनताके द्वारा प्रत्यक्ष तौरपर चुने जाने लगे हैं। सीनेटरकी उमर तीस सालसे ऊपर होनी चाहिये। वह नौ सालसे अमरीकाका नागरिक हो। जिस राष्ट्रसे उसका चुनाव हो उसीका वह रहने वाला हो। प्रत्येक सीनेटर छःसालके लिये चुना जाता है।

अमरीकाकी राष्ट्र सभा संसारके अन्य सब सभ्यदेशोंकी राष्ट्र सभाओंकी अपेक्षा अधिक ध्यान देने योग्य है। महाशय ब्राइसकी सम्मतिमें तो अमरीकन शासनपद्धतिके निर्माताओंकी बुद्धिकी यह अनुपम तथा अद्भुत कृति है। अमरीकन राष्ट्र सभाका एक बड़ाभारी गुण यह है कि वह सर्वदा स्थिर रहता है। यद्यपि उसके कुछ सभ्य प्रति दूसरे वर्ष बदलते रहते है तथापि सभ्योंसे वह कदापि रिक्त नहीं होती है। दो तिहाई सभ्य सदा ही उसमें विद्यमान रहते हैं। संसारके अन्य सभ्य देशोंकी अपेक्षा अमरीकन राष्ट्र सभामें सभ्योंकी संख्या बहुत कम है जिसका ज्ञान नीचेके ब्योरेसे हो सकता है:—

राष्ट्र	राष्ट्रसभाके सभ्योंकी संख्या
अमरीकन राष्ट्र सभा	६०
अंग्रेजी लार्ड सभा	६००
प्रुशियन राष्ट्र सभा	३००
फरासीसी राष्ट्रसभा	३००
कनाडाकी "	८७

अस्ट्रेलियाकी राष्ट्रसभा ३६
जर्मन राष्ट्रसभा ५८

अमरीकन राष्ट्रसभाके सभ्योंकी संख्याका न्यून होना उसके लिये अच्छा ही है, क्योंकि इससे साम्राज्यका कार्य बहुत ही अच्छीतरहसे किया जा सकता है।

(ख) स्विट्जरलैंड —स्विट्जरलण्डकी राष्ट्रसभामें, पूर्णराष्ट्र के दो सभ्य और अर्द्धराष्ट्रका एक सभ्य होता है। स्विस् राष्ट्र सभाका आधार अमरीकन सीनेटपर है। अमरीकामें सीनेटकी शक्ति बहुत ही अधिक है परन्तु स्विट्जरलेंडमें इससे सर्वथा विपरीत बात है। स्विट्जलैंण्डमें राष्ट्रसभाका पहले जो आदर था उसका अब कुछ भी अंश नही बचा। इसका मुख्य कारण यह है कि वहां भिन्न भिन्न श्रेणी तथा दलोंके नेता प्रतिनिधि सभाका सभ्य होना ही अधिकतर पसन्द करते हैं। यह क्यों? यह इसीलिये कि राष्ट्रीय उपसमितिके सभ्य प्रायः प्रतिनिधि सभामेंसे ही निर्वाचित होते हैं और उसके कार्य्योंका निरीक्षण भी प्रतिनिधि सभा ही करती है। स्विस् राष्ट्रसभाके सभ्योंकी संख्या चौवालीस है। बाईस राष्ट्रोंके द्वारा इनका निर्वाचन होता है। कौनसा राष्ट्र कितने वर्षोंके लिये राष्ट्रसभामें प्रतिनिधि भेजे इसका वहां कोई नियम नही। यही कारण है कि कोई राष्ट्र चार सालके लिये और कोई एक सालके लिये ही अपने प्रतिनिधि भेजता है।

§६० *द्वितीय सभाका निर्माण।*

सभ्य राष्ट्रोंमें प्रथम सभाके निर्माण, निर्वाचन आदिमें जो

भेद है उसपर प्रकाश डाला जा चुका है। द्वितीय सभामें प्रायः सभी राष्ट्र समान हैं। यह इसी लिये कि प्रायः द्वितीय सभाका उद्भव सभी राष्ट्रोंमें स्वतंत्रताके भावोंसे हुआ है। निम्नलिखित बातोंमें सभी राष्ट्रोंकी द्वितीय सभाएं एक दूसरेके समान हैं।

(क) द्वितीय सभाके प्रतिनिधियोंके निर्वाचनमें संपूर्ण नागरिकोंका अधिकार है। सभी राष्ट्रोंकी यह नीति है निर्वाचनका अधिकार जहां तक विस्तृत किया जा सके किया जाय।

(ख) प्राय. सभी राष्ट्रोंमे आबादीके अनुसार ही द्वितीय सभाके प्रतिनिधियोंका निर्वाचन होता है। इस नियमका बाधक यदि कुछ है तो वह यही है कि कभी कभी स्थानीय राज्य का विभाग ही आधार मान लिया जाता है और उनकी आबादीके अनुसार प्रतिनिधियोंकी संख्याका विभाग कर दिया जाता है। आबादी प्रायः घटती बढ़ती रहती है इससे कभी कभी गड़ बड़ हो जाती है। साधारणतया प्रतिनिधि सभाओंके प्रतिनिधियोंकी संख्या आबादीके अनुसार ही विभक्त की जाती है।

(ग) प्रतिनिधियोंका चुनाव जिलेके टिकटोंकेद्वारा होता है। साधारण टिकटोंके द्वारा पहले चुनाव किया गया परन्तु इससे उपयुक्त फल न मिला। प्रतिनिधि सभाके सभ्यों-का चुनाव भी दलोंके अनुसार होने लगा। इसको दूर करने-के लिये प्रत्येक जिलेके पृथक पृथक टिकट बनाये गये।

(घ) प्रत्यक्षविधिपर ही प्रतिनिधि सभाके सभ्योंका चुनाव किया जाता है। आम तौरपर नागरिकोंका यह

विचार है कि वह जिसको चाहे सीधे ही सभ्य चुनें । इसमें अप्रत्यक्ष विधिका प्रयोग न हो अर्थात् निर्वाचक कुछ व्यक्तियोंको निर्वाचित करें और अन्तमें वह प्रतिनिधि सभाके सभ्योंको चुनें, यह किसी भी राष्ट्रको अभिमत नहीं । यही कारण है कि सभी राष्ट्रोंमें प्रतिनिधि सभाके सभ्योंका निर्वाचन प्रत्यक्ष विधिपर होता है ।

(ङ) सभ्योंके निर्वाचनमें निर्वाचकोंकी बहुसंख्याका होना आवश्यक है ।

ऊपर लिखित पांच बातोंमें प्राय: सभी राष्ट्रोंकी प्रतिनिधि-सभाएं समान हैं । भिन्न भिन्न देशोंमें उनका संगठन निम्न लिखित प्रकारका है ।

(क) इंग्लैण्ड—इंग्लण्डकी प्रतिनिधि—सभाके सभ्योंकी संख्या स्थिर नहीं है । वह समय समयपर भिन्न भिन्न होता रहा है । संवत् १६७१ (सन् १६१४) में उसके सभ्योंकी संख्या ६७० थी । सभ्योंका विभाग इंग्लैण्डमें इस प्रकार है -

सभ्योंके चुनावके प्रदेश	सभ्योंकी संख्या
इंग्लिशका काउंटियां	२५३
इंग्लिश बरो	२३७
इंग्लिश महाविद्यालय	५
स्काच काउंटियां	३६
स्काच बरो	३१
स्काच महाविद्यालय	२
आयरिश काउंटियां	८५
आयरिश बरो	१६
आयरिश महाविद्यालय	२
	६७०

आम्ल प्रतिनिधि सभाके सभ्योंका चुनाव पांच सालोंके लिये होता है। पन्द्रह हजारकी आबादीको प्रतिनिधि सभाका एक सभ्य चुननेका अधिकार हैं। इंग्लेण्डमें यह नियम नही है कि प्रत्येक जिला अपने ही जिलेके निवासीको सभ्यके तौरपर चुने। अंग्रेज जातिका यह विचार है कि साम्राज्यके किसी भागमे कोई क्यों न पैदा हो वह पार्लमेन्टका सभ्य चुना जा सकता है। पार्लमेन्टका कोई भी सभ्य इस्तीफा नही दे सकता। यदि वह किसी राज्य पदपर नियुक्त हो जाय तो उसका स्थान खाली समझा जाता है और उसके स्थानपर कोई दूसरा व्यक्ति चुन लिया जाता है।

इंग्लैण्डमे सभ्योंके लिये शिक्षा तथा संपत्तिके संबन्धकी कुछ भी बाधा नही है। यह होते हुए भी संपत्तिके बिना प्रतिनिधि सभाका सभ्य बनना कठिन है. क्योंकि वहा सभ्य बननेके लिये बहुत धन खर्च करना पडा है। यही कारण है कि दरिद्र पुरुष सभ्य बननेका यत्न नही करते। पार्लमेन्ट के हर एक सभ्यका लडाईसे पहले प्रतिदिनका खर्च ५ पाउन्ड अर्थात् ७५ रुपयेके लगभग था। कुछ वर्षोंसे प्रतिनिधि सभाके सभ्योंका छः हजार रुपयोंकी वार्षिक वृत्ति मिलने लगी है।

पूर्वमे लिखा जा चुका है कि इंग्लैण्डमें प्रतिनिधि सभाके सभ्योंका समय पाच साल है। परन्तु अंग्रेजी शासन प्रणालीकी यह विशेषता है कि मंत्रि सभा राजाकी स्वीकृति लेकर पार्लमेन्टको चुनावके लिये प्रेरित कर सकती है। उसकी इस शक्तिका यह परिणाम है कि कोई भी आंग्ल प्रतिनिधि सभा अपने पूरे समय तक विद्यमान नहीं रही।

औसतसे इसका समय चार सालसे कम निकलता है। पिछली सदीमें सबसे लंबी पार्लमेन्टका समय ६ वर्ष एक मास तथा बारह दिन था।

(ख) फ्रांस—संवत् १९७१ (सन् १९१४) में फरासीसी प्रतिनिधि सभाके सभ्योंकी संख्या ५९७ थी। फ्रान्स ३६२ मंडलोंमें विभक्त किया गया है और प्रत्येक मंडलको एक एक सभ्य भेजनेका अधिकार है। यदि एक मंडलकी आबादी एक लाखसे अधिक हो तो वह कई एक उपमण्डलोंमें विभक्त कर दिया जाता है। मंडलोंके अतिरिक्त प्रतिनिधि सभाके सभ्यों-मेंसे १० सभ्य उपनिवेशोंके और ६ सभ्य अल्जीयर्सके होते हैं। शुरूशुरूमें साधारण टिकटोंके द्वारा ही सभ्योंका निर्वाचन होता था। संवत् १९३६के बादसे मंडल या जिलेके टिकटोंका ही व्यवहार होने लगा। २१ वर्षकी आयुसे अधिक आयु वाले प्रत्येक फरासीसीको प्रतिनिधि सभाका सभ्य चुननेका अधिकार है। परन्तु सभ्योंके लिये पचीस सालकी उमरका होना जरूरी है। फ्रान्समें कोई भी राज्याधिकारी या राज्य सेवक प्रतिनिधि सभाका सभ्य नहीं बन सकता। पांच सालके लिये ही सभ्य चुने जाते हैं।

फ्रान्सकी प्रतिनिधि सभामें अशान्ति तथा हुल्लड़शाही बहुत ही अधिक है। प्रधान भी इस हुल्लड़शाहीको दूर करनेमें प्रायः असमर्थ हो जाता है। इस हुल्लड़शाहीका कारण यह है कि सभ्य प्रायः आपसमें बातें करते हैं और जो संभाषण करता है वह देर तक अपने स्थानपर नहीं आता। वहां संभाषणका कोई समय नियत नहीं है। यदि प्रतिनिधि सभामें कोलाहल चरम सीमापर पहुंच जाय और किसी

तरीकेसे शान्त न हो तो प्रधान एक घंटेके लिये अधिवेशन बन्द कर देता है।

(ग) जर्मनी.—संवत् १६७१ में जर्मनीकी प्रतिनिधि सभा (रीस्टाग) के सभ्योंकी संख्या ३६७ थी। साम्राज्यके नियमोंके द्वारा नियत किये गये मंडलोंने ही सभ्योंका निर्वाचन होता था। प्रत्येक मण्डलमें शुरू शुरूमें एक लाख मनुष्य थे। आजकल प्रत्येक सभ्यका औसत एक लाख साठ हजार है। प्रथम विभागके बाद लड़ाई तक उनका विभाग न हुआ। यही कारण है कि घनी आबादी-वाले मंडलोंके भी उतने ही सभ्य थे जितनेकि विरल आबादी वाले मंडलोंके। लडाईसे पहिले बर्लिनकी आबादी पन्द्रह लाखके लगभग थी परन्तु उसके छ ही सभ्य प्रतिनिधि सभामें जाते थे। यह क्यों? यह इसी लिये कि जर्मन राज्यको उस बातका पूर्ण तौरपर निश्चय था कि बर्लिन समष्टिवादियोंका अड्डा है अतः उसकी ओरसे प्रतिनिधि सभामें समष्टिवादी या अति उदार विचारके व्यक्ति ही प्रतिनिधि-सभामें पहुंचेंगे। यदि बर्लिनको पन्द्रह सभ्य भेजनेका अधिकार मिल जाय तो प्रतिनिधि सभामें समष्टिवादियोंकी शक्ति बढ़ जायगी। भला विलियम कैसरको यह कब मंजूर था। लड़ाईके खतम होनेसे पूर्व कैसरको सिंहासन छोड़ना पड़ा। जिनकी शक्तिसे वह डरता था उन्होंने ही उसका अन्तमें अपने वशमें किया और पुराने स्वेच्छाचारका पूरा बदला निकाला।

(घ) अमरीका:—संवत् १६७१ (सन् १९१४) में अमरीकाकी प्रतिनिधि सभा (The House of Representatives) के

सभ्योंकी संख्या ४३५ थी। अमरीकाकी प्रतिनिधि सभाके सभ्य जनताकीओरसे निर्वाचित होते हैं। भिन्न भिन्न राष्ट्रोंको अपनी अपनी आबादीके अनुसार सभ्य भेजनेका अधिकार है। शुरू शुरूमें प्रतिनिधि सभाके सभ्य केवल ६५ थे। अमरीकाकी आबादी बहुत थोडी थी। आजकल अमरीकामें १७३६०५ आदमी पीछे एक सभ्य चुना जाता है। जिन जिन राष्ट्रोंकी १७३६०५ के ६½ गुणासे कुछ ही जन-संख्या ज्यादा है उन्हें जातीय सभाने ७ सभ्य भेजनेका अधिकार दिया है। और जिनकी आबादी १७३६०५ से कम भी है उन्हें भी १ प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार प्राप्त है। अमरीकामे १० वर्षमे गणना की जाती है और उसी गणनाके अनुसार १० वर्षके लिये प्रत्येक राष्ट्रकी प्रतिनिधि भेजनेकी संख्या निश्चित कर दी जाती है। प्रतिनिधिसभाके सभ्योंका चुनाव १८६४, ६६, ६८ आदि युग्म वर्षोंमे ही होता है।

निर्वाचकोंके द्वारा जो व्यक्ति निर्वाचित हो उनमे निम्नलिखित गुणोंका होना आवश्यक है।

(१) पच्चीस वर्षसे न्यून आयु न हो।

(२) सात वर्षसे वह अमरीकाका नागरिक हो।

(३) निर्वाचित कालमें वह उसी राष्ट्रमें रहता हो जिसकी ओरसे वह निर्वाचित हो।

संवत् १६२३-२५ (१८६६-६८ई०) में पास की गयी शासनपद्धतिकी चौदहवीं धाराके अनुसार राष्ट्र इस बातके लिये प्रेरित किये गये हैं कि निर्वाचकोंका क्षेत्र यथासंभव विस्तृत रखें। प्रतिनिधियोंके चुनावमें अमरीकामें बहुत बार तीस हजार रुपये तक खर्च हो जाते हैं। शासनपद्धतिकी

धाराओंके प्रतिकूल होते हुए भी अमीर लोग प्रतिनिधियोंके निर्वाचनमे रुपयोंको पानीकी तरह बहाते हैं

§६१ दोनों सभाओंकी आपेक्षिक शक्ति।

साधारणतया सिद्धान्तके तौरपर दोनों सभाओंकी शक्ति समान समझी जाती है। प्रत्येक सभा प्रस्ताव पेश कर सकती है और पास कर सकती है। संशोधन तथा राज्य नियम बननेके लिये प्रस्तावपर दोनों सभाओंकी स्वीकृति आवश्यक है। कुछ राष्ट्रोंमें प्रतिनिधि सभाओंके पास धन संबंधी शक्ति है और उसके द्वारा उनका महत्त्व प्रथम सभाकी अपेक्षा अधिक हो गया है। इंग्लेंडमें यह विशेषता बहुत ही प्रत्यक्ष है। चौदहवा सदीमें इंग्लैंडमें प्रथम सभाके सभ्य राज्यकरसे मुक्त थे। राष्ट्रका खर्च जनताके प्रतिनिधियोंके ही सरपर था। जनताने इसीलिये राज्यकर तथा राज्य-व्ययका प्रबन्ध अपने हाथमें रख लिया।

इंग्लैंडकी देखादेखी अन्य राष्ट्रोंने भी प्रतिनिधि सभाओंको आर्थिक शक्ति देनेका यत्न किया। आय तथा व्यय जैसे प्रश्नका निर्णय शीघ्र हो जाय और वह चिरकाल तक दोनों सभाओंमे न लटके इस उद्देश्यसे भी प्रतिनिधि सभाओंकी आर्थिक शक्ति बढायी गयी थी। इंग्लडमें लार्ड-सभा आर्थिक प्रस्तावोंको न पेश कर सकती है और न प्रतिनिधि सभा द्वारा भेजे गये ऐसे प्रस्तावोंमें वह संशोधन ही कर सकती है। लड़ाईसे पहले प्रशियामें यह बात न थी। वहां लार्ड सभा आर्थिक प्रस्तावोंको पेश करनेकी शक्ति न रखते हुए भी उनको रद्द कर सकती थी। नीदरलैंडमें भी

यही बात थी। अमरीकामें सीनेट आर्थिक प्रस्तावोंको पेश करनेमें निःशक्त है। इसमें सन्देह भी नहीं है कि वह उन प्रस्तावों का संशोधन कर सकती है और उनमें यहांतक कांट छांट कर सकती है कि एक तरीकेसे उस संबंधमें उसकी शक्ति अपरिमित हो गयी है। स्विट्जर्लैंड तथा जर्मनीमें दोनों सभाओं की शक्ति आर्थिक प्रस्तावों के संबंधमें समान थी। आस्ट्रियामें यदि दोनों सभाओंका किसी आर्थिक प्रस्तावपर मत-भेद हो तो बहु-सम्मतिसे पास की गयी कमसे कम रकम प्रामाणिक समझी जाती थी।

सिद्धान्तमें दोनों सभाओं की शक्ति समान है परन्तु कार्य्यमें दोनों की शक्ति भिन्न भिन्न है। स्वतन्त्रता समानता तथा भ्रातृभावके विचारों के प्रचारसे प्रथम सभाकी शक्ति बहुत घट गयी। द्वितीय सभाकी शक्ति आजकल बहुत अधिक है। जनताकी सम्मतिका प्रकाशक वही समझी जाती है। फ्रांस, इटली, स्पेन तथा अन्य यूरोपीय राष्ट्रोंमें प्रथम सभाकी शक्ति बहुत ही कम है। इंग्लैंडमे भी प्रतिनिधि सभाकी सम्मतिको लार्ड सभा चिरकाल तक नहीं रोक सकती। यदि जनता किसी एक बातको पास करनेपर कटिबद्ध हो जाय तो लार्डसभा कुछ भी नहीं कर सकती। जनताका प्रस्ताव नियम बन ही जाता है। दो सालके बीचमें यदि कोई प्रस्ताव लोकसभाके द्वारा तीन बार पास हो जाय तो वह राज्यनियमका रूप धारण कर लेता है। लार्डसभाका निषेध उस प्रस्तावको राज्यनियम बननेसे नहीं रोक सकता। जर्मनीमें लड़ाईसे पहले और अमरीकामें अब तक प्रथम सभाकी शक्ति बहुत अधिक है।